स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म

卐

–: लेखक :–

श्री वाणीभूषण बा. ब्र. पं. भूरामल जी शास्त्री

(आचार्य ज्ञानसागर जी)

प्रेरक प्रसंग : प पू. आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परमशिष्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, क्षु. श्री गम्भीर सागरजी, क्षु. श्री धैर्य सागरजी महाराज के ऐतिहासिक १९९४ के श्री सोनी जी की नसियाँ, अजमेर के चातुर्मास के उपलक्ष्य में प्रकाशित ।

ट्रस्ट संस्थापक : स्व. पं. जुगल किशोर मुख्तार

ग्रन्थमाला सम्पादक एवं नियामक : डॉ. दरबारी लाल कोठिया न्यायाचार्य, बीना (मध्य प्रदेश)

संस्करण : द्वितीय

प्रति : 2000

मूल्य : स्वाध्याय

(नोट :- डाक खर्च भेजकर प्रति निशुल्क प्राप्ति स्थान से मंगा सकते है ।

प्राप्ति स्थान :

*** सोनी मंन्दिर ट्रस्ट**
सोनीजी की नसियाँ, अजमेर (राज.)

*** डा. शीतलचन्द जैन**
मंत्री – श्री वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट
१३१४ अजायब घर का रास्ता, किशनपोल बाजार, जयपुर

*** श्री दिगम्बर जैन मन्दिर अतिशय क्षेत्र**
मन्दिर संघी जी, सांगानेर जयपुर (राज.)

-: आशीर्वाद एवं प्रेरणा :-

मुनि श्री सुधासागरजी महाराज

क्षु. श्री गंभीर सागरजी, एवं क्षु. श्री धैर्य सागरजी महाराज

सौजन्यता :

श्री प्रफुल्लचंद जी गदिया,
अजमेर

प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन समिति एवं सकल दिगम्बर जैन समाज,
अजमेर (राज.)

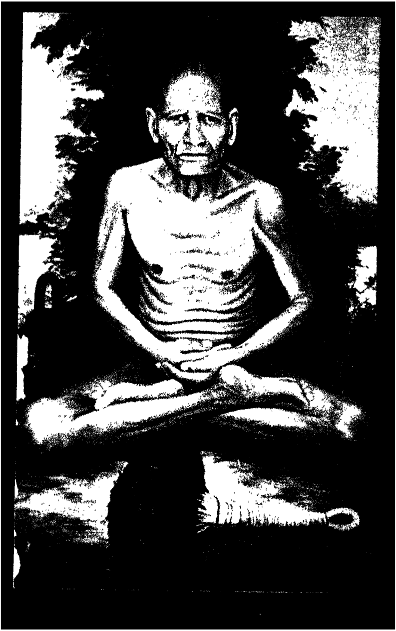
प्रकाशन :

वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, जयपुर

-: मुद्रण एवं लेज़र टाइप सैटिंग :-

निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्ट्स

पुरानी मण्डी, अजमेर फोन : 22291



प्रकाशकीय समर्पण



आ. श्री विद्यासागर जी

मु. श्री सुधासागर जी



पंचाचार युक्त
महाकवि, दार्शनिक विचारक,
धर्मप्रभाकर, आदर्श चारित्रनायक, कुन्द-कुन्द
की परम्परा के उन्नायक, संत शिरोमणि, समाधि सम्राट,
परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के कर कमलों में
एवं
इनके परम सुयोग्य
शिष्य ज्ञान, ध्यान, तप युक्त
जैन संस्कृति के रक्षक, क्षेत्र जीर्णोद्धारक,
वात्सल्य मूर्ति, समता स्वाभावी, जिनवाणी के यथार्थ
उद्घोषक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक संत मुनि
श्री सुधासागर जी महाराज के कर कमलों में
सकल दि. जैन समाज एवं दिगम्बर जैन समिति,
अजमेर (राज.) की ओर से
सादर समर्पित ।

प्रकाशकीय

जैन साहित्य और इतिहास के मर्मज्ञ एवं अनुसंधाता स्वर्गीय सरस्वतीपुत्र पं. जुगल किशोर जी मुख्तार ''युगवीर'' ने अपनी साहित्य इतिहास सम्बन्धी अनुसन्धान- प्रवृत्तियों को मूर्त्तरुप देने के हेतु अपने निवास सरसावा (सहारनपुर) में ''वीर सेवा मंदिर'' नामक एक शोध संस्था की स्थापना की थी और उसके लिए क्रीत विस्तृत भूखण्ड पर एक सुन्दर भवन का निर्माण किया था, जिसका उद्घाटन वैशाख सुदि 3 (अक्षय-तृतीया), विक्रम संवत् 1993, दिनांक 24 अप्रैल 1936 में किया था । सन् 1942 में मुख्तार जी ने अपनी सम्पत्ति का ''वसीयतनामा'' लिखकर उसकी रजिस्ट्री करा दी थी । ''वसीयतनामा'' में उक्त ''वीर सेवा मन्दिर'' के संचालनार्थ इसी नाम से ट्रस्ट की भी योजना की थी, जिसकी रजिस्ट्री 5 मई 1951 को उनके द्वारा करा दी गयी थी। इस प्रकार पं. मुख्तार जी ने वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट की स्थापना करके उनके द्वारा साहित्य और इतिहास के अनुसन्धान कार्य को प्रथमत: अग्रसारित किया था ।

स्वर्गीय बा. छोटेलालजी कलकत्ता, स्वर्गीय ला. राजकृष्ण जी दिल्ली, रायसाहब ला. उल्फतरायजी दिल्ली आदि के प्रेरणा और स्वर्गीय पूज्य क्षु. गणेश प्रसाद जी वर्णी (मुनि गणेश कीर्ति महाराज) के आशीर्वाद से सन् 1948 में श्रद्वेय मुख्तार साहब ने उक्त वीर सेवा मन्दिर का एक कार्यालय उसकी शाखा के रुप में दिल्ली में, उसके राजधानी होने के कारण अनुसन्धान कार्य को अधिक व्यापकता और प्रकाश मिलने के उद्देश्य से, राय साहब ला.उल्फतराय जी के चैत्यालय में खोला था । पश्चात् बा. छोटे लालजी,साहू शान्तिप्रसाद जी और समाज की उदारतापूर्ण आर्थिक सहायता से उसका भवन भी बन गया, जो 21 दरियागंज दिल्ली में स्थित है और जिसमें ''अनेकान्त'' (मासिक) का प्रकाशन एवं अन्य साहित्यिक कार्य सम्पादित होते हैं । इसी भवन में सरसावा से ले जाया गया विशाल ग्रन्थागार है, जो जैनविद्या के विभिन्न अङ्गो पर अनुसन्धान करने के लिये विशेष उपयोगी और महत्वपूर्ण है ।

वीर-सेवा मन्दिर ट्रस्ट गंथ-प्रकाशन और साहित्यानुसन्धान का कार्य कर रहा है । इस ट्रस्ट के समर्पित वयोवृद्ध पूर्व मानद मंत्री एवं वर्तमान में अध्यक्ष डा. दरबारी लालजी कोठिया बीना के अथक परिश्रम एवं लगन से अभी तक ट्रस्ट से 38 महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है । आदरणीय कोठियाजी के ही मार्गदर्शन में ट्रस्ट का संपूर्ण कार्य चल रहा है । अत: उनके प्रति हम हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करते हैं और कामना करते हैं कि वे दीर्घायु होकर अपनी सेवाओं से समाज को चिरकाल तक लाभान्वित करते रहें। ट्रस्ट के समस्त सदस्य एवं कोषाध्यक्ष माननीय श्री चन्द संगल एटा, तथा संयुक्त मंत्री ला.सुरेशचन्द्र जैन सरसावा का सहयोग उल्लेखनीय है । एतदर्थ वे धन्यवादार्ह हैं ।

संत शिरोमणि आचार्य विद्यासागरजी के परम शिष्य पूज्य मुनि 108 सुधासागर जी महाराज के आर्शीवाद एवं प्रेरणा से दिनांक 9 से 11 जून 1994 तक श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मंदिर संघीजी सागांनेर में आचार्य विद्यासागरजी के गुरु आचार्य प्रवर ज्ञानसागरजी महाराज के व्यक्तित्व एवं कृतित्व परअखिल भारतीय विद्वत संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। इस संगोष्ठी में निश्चय किया था कि आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के समस्त ग्रन्थों का प्रकाशन किसी प्रसिद्ध संस्था से किया जाय । तदनुसार समस्त विद्वानों की सम्मति से यह कार्य वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट ने सहर्ष स्वीकार कर सर्वप्रथम वीरोदयकाव्य के प्रकाशन की योजना बनाई और निश्चय किया कि इस काव्य पर आयोजित होने वाली गोष्ठी के पूर्व इसे प्रकाशित कर दिया जाय । परम हर्ष है कि पूज्य मूनि 108 सुधासागार महाराज का संसघ चातुर्मास अजमेर में होना निश्चय हुआ और महाराज जी के प्रवचनों से प्रभावित होकर श्री दिगम्बर जैन समिति एवम् सकल दिगम्बर जैन समाज अजमेर ने पूज्य आचार्य ज्ञान सागर जी महाराज के वीरोदय काव्य सहित समस्त ग्रन्थों के प्रकाशन एवं संगोष्ठी का दायित्व स्वयं ले लिया और ट्रस्ट को आर्थिक निर्भार कर दिया । एतदर्थ ट्रस्ट अजमेर समाज का इस जिनवाणी के प्रकाशन एवं ज्ञान के प्रचार प्रसार के लिये आभारी है ।

प्रस्तुत कृति **स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म** के प्रकाशन में जिन महानुभाव ने आर्थिक सहयोग एवं प्रूफ रिडिंग में श्री कमलकुमारजी

बड़जात्या ने अथक परिश्रम किया तथा मुद्रण में निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्ट्स, अजमेर ने उत्साह पूर्वक कार्य किया है। वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं ।

अन्त में उस संस्था के भी आभारी है जिस संस्था ने पूर्व में यह ग्रन्थ प्रकाशित किया था । अब यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है । अतः ट्रस्ट इसको प्रकाशित कर गौरवान्वित है । जैन जयतुं शासनम् ।

दिनाङ्क : 13-14-15 अक्टूबर 1994
वीरोदय महाकाव्य पर अ. भा. विद्वत संगोष्ठी

डॉ. शीतल चन्द जैन
मानद मंत्री
वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट
1314 अजायब घर का रास्ता
किशनपोल बाजार, जयपुर

आचार्य श्री ज्ञानसागर जी की जीवन यात्रा आँखों देखी

आलेख - निहाल चन्द्र जैन
सेवा निवृत्त प्राचार्य
मिश्रसदन सुन्दर विलास, अजमेर

प्राचीन काल से ही भारत वसुन्धरा ने अनेक महापुरुषों एवं नर-पुंगवों को जन्म दिया है । इन नर-रत्नों ने भारत के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं शौर्यता के क्षेत्र में अनेकों कीर्तिमान स्थापित किये हैं । जैन धर्म भी भारत भूमि का एक प्राचीन धर्म हैं, जहाँ तीर्थंकर, श्रुत केवली, केवली भगवान के साथ साथ अनेकों आचार्यों, मुनियों एवं सन्तों ने इस धर्म का अनुसरण कर मानव समाज के लिए मुक्ति एवं आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है ।

इस १९-२० शताब्दी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य परम पूज्य, चारित्र चक्रवर्ती आचार्य १०८ श्री शांतिसागर जी महाराज थे जिनकी परम्परा में आचार्य श्री वीर सागरजी, आचार्य श्री शिव सागरजी इत्यादि तपस्वी साधुगण हुये । मुनि श्री ज्ञान सागरजी आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज से वि. स. २०१६, में खानियाँ (जयपुर) में मुनि दीक्षा लेकर अपने आत्मकल्याण के मार्ग पर आरूढ़ हो गये थे । आप शिवसागर आचार्य महाराज के प्रथम शिष्य थे।

मुनि श्री ज्ञान सागर जी का जन्म राणोली ग्राम (सीकर-राजस्थान) में दिगम्बर जैन के छाबड़ा कुल में सेठ सुखदेवजी के पुत्र श्री चतुर्भुज जी की धर्म पत्नि घृतावरी देवी की कोख से हुआ था । आपके बड़े भ्राता श्री छगनलालजी थे तथा दो छोटे भाई और थे तथा एक भाई का जन्म तो पिता श्री के देहान्त के बाद हुआ था । आप स्वयं भूरामल के नाम से विख्यात हुये । प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के प्राथमिक विद्यालय में हुई । साधनों के अभाव में आप आगे विद्याध्ययन न कर अपने बड़े भाई जी के साथ नौकरी हेतु गयाजी (बिहार) आगये । वहां १३-१४ वर्ष की आयु में एक जैनी सेठ के दुकान पर आजीविका हेतु कार्य करते रहे । लेकिन आपका मन आगे पढ़ने के लिए छटपटा रहा था । संयोगवश स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के छात्र किसी समारोह में भाग लेने हेतु गयाजी (बिहार) आये । उनके प्रभावपूर्ण कार्यक्रमों को देखकर युवा भूरामल के भाव भी विद्या प्राप्ति हेतु

वाराणसी जाने के हुए । विद्या-अध्ययन के प्रति आपकी तीव्र भावना एवं दृढ़ता देखकर आपके बड़े भ्राता ने १५ वर्ष की आयु में आपको वाराणसी जाने की स्वीकृति प्रदान कर दी ।

श्री भूरामल जी बचपन से ही कठिन परिश्रमी अध्यवसायी, स्वावलम्बी, एवं निष्ठावान थे । वाराणसी में आपने पूर्ण निष्ठा के साथ विद्याध्ययन किया और संस्कृत एवं जैन सिद्धान्त का गहन अध्ययन कर शास्त्री परीक्षा पास की । जैन धर्म से संस्कारित श्री भूरामल जी न्याय, व्याकरण एवं प्राकृत ग्रन्थों को जैन सिद्धान्तानुसार पढ़ना चाहते थे, जिसकी उस समय वाराणसी में समुचित व्यवस्था नहीं थी । आपका मन क्षुब्ध हो उठा, परिणामतः आपने जैन साहित्य, न्याय और व्याकरण को पुनःर्जीवित करने का भी दृढ़ संकल्प ही लिया । अड़िग विश्वास, निष्ठा एवं संकल्प के धनी श्री भूरामल जी ने कई जैन एवं जैनेन्तर विद्वानों से जैन वाँङ्मय की शिक्षा प्राप्त की । वाराणसी में रहकर ही आपने स्याद्वाद महाविद्यालय से "शास्त्री" की परीक्षा पास कर आप पं. भूरामल जी नाम से विख्यात हुए । वाराणसी में ही आपने जैनाचार्यों द्वारा लिखित न्याय, व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त एवं अध्यात्म विषयों के अनेक ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया ।

बनारस से लौट कर आपने अपने ही ग्रामीण विद्यालय में अवैतनिक अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया, लेकिन साथ में, निरन्तर साहित्य साधना एवं साहित्य लेखन के कार्य में भी अग्रसर होते गये। आपकी लेखनी से एक से एक सुन्दर काव्यकृतियाँ जन्म लेती रही । आपकी तरुणाई विद्वता और आजीविकोपार्जन की क्षमता देखकर आपके विवाह के लिए अनेकों प्रस्ताव आये, सगे सम्बन्धियों ने भी आग्रह किया। लेकिन आपने वाराणसी में अध्ययन करते हुए ही संकल्प ले लिया था कि आजीवन ब्रह्मचारी रहकर माँ सरस्वती और जिनवाणी की सेवा में, अध्ययन-अध्यापन तथा साहित्य सृजन में ही अपने आपको समर्पित कर दिया । इस तरह जीवन के ५० वर्ष साहित्य साधना, लेखन, मनन एवं अध्ययन में व्यतीत कर पूर्ण पांडित्य प्राप्त कर लिया । इसी अवधि में आपने दयोदय, भद्रोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय आदि साहित्यिक रचनायें संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में प्रस्तुत की वर्तमान शताब्दी में संस्कृत भाषा के महाकाव्यों की रचना की परम्परा को जीवित रखने वाले मूर्धन्य विद्वानों में आपका नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । काशी के दिग्गज विद्वानों की प्रतिक्रिया थी "इसकाल में भी कालीदास और माघकवि की टक्कर लेने वाले विद्वान हैं, यह जानकर प्रसन्नता होती हैं ।" इस तरह पूर्ण उदासीनता के साथ, जिनवाणी माँ की अविरत सेवा में आपने गृहस्थाश्रम में ही जीवन के ५० वर्ष पूर्ण किये । जैन सिद्धान्त के हृदय को आत्मसात

करने हेतु आपने सिद्धान्त ग्रन्थों श्री धवल, महाधवल जयधवल महाबन्ध आदि ग्रन्थों का विधिवत् स्वाध्याय किया । "ज्ञान भारं क्रिया बिना" क्रिया के बिना ज्ञान भार- स्वरूप है - इस मंत्र को जीवन में उतारने हेतु आप त्याग मार्ग पर प्रवृत्त हुए ।

सर्वप्रथम ५२ वर्ष की आयु में सन् १९४७ में आपने अजमेर नगर में ही आचार्य श्री वीर सागरजी महाराज से सप्तम प्रतिमा के व्रत अंगीकार किये । ५४ वर्ष की आयु में आपने पूर्णरूपेण गृहत्याग कर आत्मकल्याण हेतु जैन सिद्धान्त के गहन अध्ययन में लग गये। सन् १९५५ में ६० वर्ष की आयु में आपने आचार्य श्री वीर सागरजी महाराज से ही रेनवाल में क्षुल्लक दीक्षा लेकर ज्ञानभूषण के नाम से विख्यात हुए । सन् १९५९ में ६२ वर्ष की आयु में आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज से खानियाँ (जयपुर) में मुनि दीक्षा अंगीकार कर १०८ मुनि श्री ज्ञानसागरजी के नाम से विभूषित हुए । और आपकों आचार्य श्री का प्रथम शिष्य होने का गौरव प्राप्त हुआ । संघ में आपने उपाध्याय पद के कार्य को पूर्ण विद्वत्ता एवं सजगता के साथ सम्पन्न किया । रूढ़िवाद से कोसों दूर मुनि ज्ञानसागर जी ने मुनिपद की सरलता और गंभीरता को धारण कर मन, वचन और कायसे दिगम्बरत्व की साधना में लग गये। दिन रात आपका समय आगमानुकूल मुनिचर्या की साधना, ध्यान अध्ययन-अध्यापन एवं लेखन में व्यतीत होता रहा । फिर राजस्थान प्रान्त में ही विहार करने निकल गये । उस समय आपके साथ मात्र दो-चार त्यागी व्रती थे, विशेष रूप से ऐलक श्री सन्मतिसागर जी, क्षुल्लक श्री संभवसागर जी व सुख सागरजी तथा एक-दो ब्रह्मचारी थे । मुनि श्री उच्च कोटि के शास्त्र-ज्ञाता, विद्वान एवं तात्विक वक्ता थे । पंथ वाद से दूर रहते हुए आपने सदा जैन सिद्धान्तों को जीवन में उतारने की प्रेरणा दी और एक सद्गृहस्थ का जीवन जीने का आह्वान किया।

विहार करते हुए आप मदनगंज-किशनगढ़, अजमेर तथा ब्यावर भी गये । ब्यावर में पंडित हीरा लालजी शास्त्री ने मुनि श्री को उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों एवं पुस्तकों को प्रकाशित कराने की बात कही, तब आपने कहा "जैन वाँगमय की रचना करने का काम मेरा है, प्रकाशन आदि का कार्य आप लोगों का है" ।

जब सन् १९६७ में आपका चातुर्मास मदनगंज किशनगढ़ में हो रहा था, तब जयपुर नगर के चूलगिरि क्षेत्र पर आचार्य देश भूषण जी महाराज का वर्षा योग चल रहा था । चूलगिरी का निर्माण कार्य भी आपकी देखरेख एवं संरक्षण में चल रहा था। उसी समय सदलगा ग्रामनिवासी, एक कन्नड़-भाषी नवयुवक आपके पास ज्ञानार्जन हेतु आया । आचार्य देशभूषण जी की

आँखों ने शायद उस नवयुवक की भावना को पढ़ लिया था, सो उन्होंने उस नवयुवक विद्याधर को आशीर्वाद प्रदान कर ज्ञानार्जन हेतु मुनिवर ज्ञानसागर जी के पास भेज दिया। जब मुनि श्री ने नौजवान विद्याधर में ज्ञानार्जन की एक तीव्र कसक एवं ललक देखी तो मुनि श्री ने पूछ ही लिया कि अगर विद्यार्जन के पश्चात छोडकर चले जावोगे तो मुनि तो का परिश्रम व्यर्थ जायेगा। नौजवान विद्याधर ने तुरन्त ही दृढ़ता के साथ आजीवन सवारी का त्याग कर दिया। इस त्याग भावना से मुनि ज्ञान सागरजी अत्यधिक प्रभावित हुए और एक टक-टकी लगाकर उस नौजवान की मनोहारी, गौरवर्ण तथा मधुर मुस्कान के पीछे छिपे हुए दृढ़-संकल्प को देखते ही रह गये।

शिक्षण प्रारम्भ हुआ। योग्य गुरू के योग्य शिष्य विद्याधर ने ज्ञानार्जन में कोई कसर नहीं छोड़ी। इसी बीच उन्होंने अखंड ब्रह्मचर्य्य व्रत को भी धारण कर लिया। ब्रह्मचारी विद्याधर की साधना प्रतिमा, तत्परता तथा ज्ञान के क्षयोपशम को देखकर गुरू ज्ञानसागर जी इतने प्रभावित हुए कि, उनकी कड़ी परीक्षा लेने के बाद, उन्हें मुनिपद ग्रहण करने की स्वीकृति दे दी। इस कार्य को सम्पन्न करने का सौभाग्य मिला अजमेर नगर को और सम्पूर्ण जैन समाज को। ३० जून १९६८ तदानुसार आषाढ़ शुक्ला पंचमी को ब्रह्मचारी विद्याधर की विशाल जन समुदाय के समक्ष जैनश्वरी दीक्षा प्रदान की गई और विद्याधर, मुनि विद्यासागर के नाम से सुशोभित हुए। उस वर्ष का चातुर्मास अजमेर में ही सम्पन्न हुआ।

तत्पश्चात मुनि श्री ज्ञानसागर जी का संघ विहार करता हुआ नसीराबाद पहुँचा। यहाँ आपने ७ फरवरी १९६९ तदानुसार मगसरबदी दूज को श्री लक्ष्मी नारायण जी को मुनि दीक्षा प्रदान कर मुनि १०८ श्री विवेकसागर नाम दिया इसी पुनीत अवसर पर समस्त उपस्थित जैन समाज द्वारा आपको आचार्य पद से सुशोभित किया गया।

आचार्य ज्ञानसागर जी की हार्दिक अभिलाषा थी कि उनके शिष्य उनके सान्निध्य में अधिक से अधिक ज्ञार्नाजन कर ले। आचार्य श्री अपने ज्ञान के अथाह सागर को समाहित कर देना चाहते थे विद्या के सागर में और दोनों ही गुरू-शिष्य उतावले थे एक दूसरे में समाहित होकर ज्ञानामृत का निरन्तर पान करने और कराने में। आचार्य ज्ञानसागर जी सच्चे अर्थों में एक विद्वान-जौहरी और पारखी थे तथा बहुत दूर दृष्टि वाले थे। उनकी काया निरन्तर क्षीण होती जा रही थी। गुरू और शिष्य की जैन सिद्धान्त एवं वांगमय की आराधना, पठन, पाठन एवं तत्वचर्चा-परिचर्चा निरन्तर अबाधगति से चल रही थी।

तीन वर्ष पश्चात १९७२ में आपके संघ का चातुर्मास पुनः नसीराबाद में हुआ। अपने आचार्य गुरू की गहन अस्वस्थ्यता में उनके परम सुयोग्य शिष्य मुनि श्री विद्यासागर जी ने पूर्ण निष्ठा और निस्पृह भाव से इतनी सेवा की कि शायद कोई लखपती बाप का बेटा भी इतनी निष्ठा और तत्परता के साथ अपने पिता श्री की सेवा कर पाता । कानों सुनी बात तो एक बार झूंठी हो सकती है लेकिन आँखो देखी बात को तो शत प्रतिशत सत्य मान कर ऐसी उत्कृष्ट गुरू भक्ति के प्रति नतमस्तक होना ही पड़ता है।

चातुर्मास समाप्ति की ओर था । आचार्य श्री ज्ञानसागर जी शारीरिक रुप से काफी अस्वस्थ्य एवं क्षीण हो चुके थे । साइटिका का दर्द कम होने का नाम ही नहीं ले रहा था दर्द की भयंकर पीड़ा के कारण आचार्य श्री चलने फिरने में असमर्थ होते जा रहे थे । १६-१७ मई १९७२ की बात है - आचार्य श्री ने अपने योग्यतम शिष्य मुनि विद्यासागर से कहा "विद्यासागर! मेरा अन्त समीप है । मेरी समाधि कैसे सधेगी ?

इसी बीच एक महत्वपूर्ण घटना नसीराबाद प्रवास के समय घटित हो चुकी थी । आचार्य श्री के देह-त्याग से करीब एक माह पूर्व ही दक्षिण प्रान्तीय मुनि श्री पार्श्वसागर जी आचार्य श्री की निर्विकल्प समाधि में सहायक होने हेतु नसीराबाद पधार चुके थे । वे कई दिनों से आचार्य श्री ज्ञानसागरजी की सेवा सुश्रुषा एवं वैय्यावृत्ति कर अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहते थे। नियति को कुछ और ही मंजूर था। १५ मई १९७२ को पार्श्वसागर महाराज को शारीरिक व्याधि उत्पन्न हुई और १६ मई को प्रात:काल करीब ७ बजकर ४५ मिनिट पर अरहन्त, सिद्ध का स्मरण करते हुए वे इस नश्वर देह का त्याग कर स्वर्गारोहण हो गये । अत: अब यह प्रश्न आचार्य ज्ञानसागर जी के सामने उपस्थित हुआ कि समाधि हेतु आचार्य पद का परित्याग तथा किसी अन्य आचार्य की सेवा में जाने का आगम में विधान है । आचार्य श्री के लिए इस भंयकर शारीरिक उत्पीडन की स्थिति में किसी अन्य आचार्य के पास जाकर समाधि लेना भी संभव नहीं था। आचार्य श्री ने अन्तत्तोगत्वा अपने शिष्य मुनि श्री विद्यासागर जी को कहा "मेरा शरीर आयु कर्म के उदय से रत्नत्रय- आराधना में शनैः शनैः कृश हो रहा है। अत: मैं यह उचित समझता हूँ कि शेष जीवन काल में आचार्य पद का परित्याग कर इस पद पर अपने प्रथम एवं योग्यतम शिष्य को पदासीन कर दूं। मेरा विश्वास है कि आप श्री जिनशासन सम्वर्धन एवं श्रमण संस्कृति का संरक्षण करते हुए इस पदकी गरिमा को बनाये रखोगे तथा संघ का कुशलता पूर्वक संचालन करसमस्त समाज को सही दिशा प्रदान करोगे।" जब मुनि श्री विद्यासागरजी ने इस महान भार को उठाने में, ज्ञान, अनुभव और उम्र से अपनी लघुता

प्रकट की तो आचार्य ज्ञान सागरजी ने कहा "तुम मेरी समाधि साध दो, आचार्य पद स्वीकार करलो। फिर भी तुम्हें संकोच है तो गुरु दक्षिणा स्वरुप ही मेरे इस गुरुत्तर भार को धारण कर मेरी निर्विकल्प समाधि करादो- अन्य उपाय मेरे सामने नहीं है।"

मुनि श्री विद्यासागर जी काफी विचलित हो गये, काफी मंथन किया, विचार-विमर्श किया और अन्त में निर्णय लिया कि गुरु दक्षिणा तो गुरु को हर हालत में देनी ही होगी । और इस तरह उन्होंने अपनी मौन स्वीकृति गुरु चरणों से समर्पित कर दी ।

अपनी विशेष आभा के साथ २२ नवम्बर १९७२ तदानुसार मगसर बदी दूज का सूर्योदय हुआ। आज जिन शासन के अनुयायिओं को साक्षात् एक अनुपम एवं अद्भुत दृश्य देखने को मिला । कल तक जो श्री ज्ञान सागरजी महाराज संघ के गुरु थे, आचार्य थे, सर्वोपरि थे, आज वे ही साधु एवं मानव धर्म की पराकाष्ठा का एक उत्कृष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करने जा रहे थे. यह एक विस्मयकारी एवं रोमांचक दृश्य था, मुनि की संज्वलन कषाय की मन्दता का सर्वोत्कृष्ठ उदाहरण था । आगमानुसार आचार्य श्री ज्ञानसागरजी ने आचार्य पदत्याग की घोषणा की तथा अपने सर्वोत्तम योग्य शिष्य मुनि श्री विद्यासागरजी को समाज के समक्ष अपना गुरुत्तर भार एवं आचार्य पद देने की स्वीकृति मांगकर, उन्हें आचार्य पद से विभूषित किया । जिस बडे पट्टे पर आज तक आचार्य श्री ज्ञानसागर जी आसीन होते थे उससे वे नीचे उतर आये और मुनि श्री विद्यासागरजी को उस आसन पर पदासीन किया। जन-समुदाय की आँखे सुखानन्द के आँसुओं से तरल हो गई । जय घोष से आकाश और मंदिर का प्रागंण गूंज उठा। आचार्य श्री विद्यासागर जी ने अपने गुरु के आदेश का पालन करते हुये पूज्य गुरुवर की निर्विकल्प समाधि के लिए आगमानुसार व्यवस्था की। गुरु ज्ञानसागरजी महाराज भी परम शान्त भाव से अपने शरीर के प्रति निर्ममत्व होकर रस त्याग की ओर अग्रसर होते गये।

आचार्य श्री विद्यासागरजी ने अपने गुरु की संलेखना पूर्वक समाधि कराने में कोई कसर नहीं छोडी । रात दिन जागकर एवं समयानुकूल सम्बोधन करते हुए आचार्य श्री ने मुनिवर की शांतिपूर्वक समाधि कराई । अन्त में समस्त आहार एवं जल का त्यागोपरान्त मिती जेष्ठ कृष्णा अमावस्या वि. स. २०३० तदनानुसार शुक्रवार दिनांक १ जून १९७३ को दिन में १० बजकर ५० मिनिट पर गुरु ज्ञानसागर जी इस नश्वर शरीर का त्याग कर आत्मलीन हो गये । और दे गये समस्त समाज को एक ऐसा सन्देश कि अगर सुख,शांति

और निर्विकल्प समाधि चाहते हो तो कषायों का शमन कर रत्नत्रय मार्ग पर आढ़ हो जाओ, तभी कल्याण संभव है ।

इस प्रकार हम कह सकते है कि आचार्य ज्ञानसागरजी का विशाल कृतित्व और व्यक्तित्व इस भारत भूमि के लिए सरस्वती के वरद पुत्रता की उपलब्धि कराती है। इनके इस महान साहित्य सृजनता से अनेकानेक ज्ञान पिपासुओं ने इनके महाकाव्यों परशोध कर डाक्टर की उपाधि प्राप्त कर अपने आपको गौरवान्वित किया है। आचार्य श्री के साहित्य की सुरभि वर्तमान में सारे भारत में इस तरह फैल कर विद्वानों को आकर्षित करने लगी है कि समस्त भारतवर्षीय जैन अजैन विद्वानों का ध्यान उनके महाकाव्यों की ओर गया है। परिणामत: आचार्य श्री ज्ञानसागरजी की ही संघ परम्परा के प्रथम आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परम सुयोग्य शिष्य, प्रखर प्रवचन प्रवक्ता, मुनि श्री १०८ श्री सुधासागर जी महाराज के सान्निध्य में प्रथम बार "आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर ९-१०-११ जून १९९४ को महान अतिशय एवं चमत्कारिक क्षेत्र, सांगानेर (जयपुर) में संगोष्ठी आयोजित करके आचार्य ज्ञानसागरजी के कृतित्व को सरस्वती की महानतम साधना के रूप में अंक्ति किया था, उसे अखिल भारतवर्षीय विद्वत्त समाज के समक्ष उजागर कर विद्वानों ने भारतवर्ष के सरस्वती पुत्र का अभिनन्दन किया है। इस संगोष्ठी में आचार्य श्री के साहित्य-मंथन से जो नवनीत प्राप्त हुवा, उस नवनीत की स्निगधता से सम्पूर्ण विद्वत्त मण्डल इतना आनन्दित हुआ कि पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी के सामने अपनी अतरंग भावना व्यक्त की, कि- पूज्य ज्ञानसागरजी महाराज के एक एक महाकाव्य पर एक एक संगोष्ठी होना चाहिए, क्योंकि एक एक काव्य में इतने रहस्मय विषय भरे हुए हैं कि उनके समस्त साहित्य पर एक संगोष्ठी करके भी उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता । विद्वानों की यह भावना तथा साथ में पूज्य मुनि श्री सुधासागर जी महाराज के दिल में पहले से ही गुरु नाम गुरु के प्रति,स्वभावत: कृतित्व और व्यक्तित्व के प्रति प्रभावना बैठी हुई थी, परिणामस्वरुप सहर्ष ही विद्वानों और मुनि श्री के बीच परामर्श एवं विचार विमर्श हुआ और यह निर्णय हुआ कि आचार्य श्री ज्ञानसागरजी के पृथक पृथक महाकाव्य पर पृथक पृथक रुप से अखिल भारतवर्षीय संगोष्ठी आयोजित की जावे । उसी समय विद्वानों ने मुनि श्री सुधासागर जी के सान्निध्य मे बैठकर यह भी निर्णय लिया कि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज का समस्त साहित्य पुन: प्रकाशित कराकर विद्वानों को, पुस्तकालयों और विभिन्न स्थानों के मंदिरों को उपलब्ध कराया जावे।

साथ में यह भी निर्णय लिया गया कि द्वितीय संगोष्ठी में वीरोदय महाकाव्य को विषय बनाया जावे । इस महाकाव्य में से लगभग ५० विषय

पृथक पृथक रुप से छाँटे गये, जो पृथक पृथक मूर्धन्य विद्वानों के लिए आलेखित करने हेतु प्रेषित किये गये है। आशा है कि निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार मुनि श्री के ही सान्निध्य में द्वितीय अखिल भारतवर्षीय विद्वत्त संगोष्ठी वीरोदय महाकाव्य पर माह अक्टूबर ९४ मे अजमेर में सम्पन्न होने जा रही है जिसमें पूज्य मुनि श्री का संरक्षण, नेतृत्व एवं मार्गदर्शन सभी विद्वानों को निश्चित रुप से मिलेगा ।

हमारे अजमेर समाज का भी परम सौभाग्य है कि यह नगर आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज की साधना स्थली एवं उनके परम सुयोग्य शिष्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की दीक्षा स्थली रही है । अजमेर के सातिशय पुण्य के उदय के कारण हमारे आराध्य पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने अपने परम सुयोग्य शिष्य, प्रखर प्रवक्ता, तीर्थोद्धारक, युवा मनिषी, पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री गंभीर सागरजी एवं पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री धैर्य सागर जी महाराज को, हम लोगों की भक्ति भावना एवं उत्साह को देखते हुए इस संघ को अजमेर चातुर्मास करने की आज्ञा प्रदान कर हम सबको उपकृत किया है ।

परम पूज्य मुनिराज श्री सुधासागरजी महाराज का प्रवास अजमेर समाज के लिए एक वरदान सिद्ध हो रहा है । आजतक के पिछले तीस वर्षों के इतिहास में धर्मप्रेमी सज्जनों व महिलाओं का इतना जमघट, इतना समुदाय देखने को नहीं मिला जो एक मुनि श्री के प्रवचनों को सुनने के लिए समय से पूर्व ही आकर अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं । सोनी जी की नसियाँ मे प्रवचन सुनने वाले जैन-अजैन समुदाय की इतनी भीड़ आती हैं कि तीन-तीन चार-चार स्थानों पर "क्लोज-सर्किट टी.वी." लगाने पड़ रहे हैं। श्रावक संस्कार शिविर जो पर्यूषण पर्व में आयोजित होने जा रहा है। अपने आपकी एक एतिहासिक विशिष्ठता है । अजमेर समाज के लिए यह प्रथम सौभाग्यशाली एवं सुनहरा अवसर होगा जब यहाँ के बाल-आबाल अपने आपको आगमानुसार संस्कारित करेंगे ।

महाराज श्री के व्यक्तित्व का एवं प्रभावपूर्ण उद्बोधन का इतना प्रभाव पड़ रहा है कि दान दातार और धर्मप्रेमी निष्ठावान व्यक्ति आगे बढ़कर महाराज श्री के सानिध्य में होने वाले कार्यक्रमों को मूर्त रुप देना चाहते हैं । अक्टूबर माह के मध्य अखिल भारतवर्षीय विद्वत-संगोष्ठी का आयोजन भी एक विशिष्ठ कार्यक्रम है जिसमें पूज्य आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के द्वारा रचित वीरोदय महाकाव्य के विभिन्न विषयों पर ख्याति प्राप्त विद्वान अपने आलेख का वाचन करेंगे। काश यदि पूज्य मुनिवर सुधासागरजी महाराज

का संसघ यहाँ अजमेर में पर्दापण न हुआ होता तो हमारा दुर्भाग्य किस सीमा तक होता, विचारणीय है ।

पूज्य मुनिश्री के प्रवचनों का हमारे दिल और दिमाग पर इतना प्रभाव हुआ कि सम्पूर्ण दिगम्बर समाज अपने वर्ग विशेष के भेदभावों को भुलाकर जैन शासन के एक झंडे के नीचे आ गये । यहीं नहीं हमारी दिगम्बर जैन समिति ने समाज की ओर से पूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के समस्त साहित्य का पुनः प्रकाशन कराने का संकल्प मुनिश्री के सामने व्यक्त किया । मुनि श्री का आशीर्वाद मिलते ही समाज के दानवीर लोग एक एक पुस्तक को व्यक्तिगत धनराशि से प्रकाशित कराने के लिए आगे आये ताकि वे अपने राजस्थान में ही जन्मे सरस्वती-पुत्र एवं अपने परमेष्ठी के प्रति पूजांजली व्यक्त कर अपने जीवन में सातिशय पुण्य प्राप्त कर तथा देव, शास्त्र, गुरु के प्रति अपनी आस्था को बलवती कर अपना अपना आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सके।

इस प्रकार आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के साहित्य की आपूर्ति की समस्या की पूर्ती इस चातुर्मास में अजमेर समाज ने सम्पन्न की है उसके पीछे एक ही भावना है कि अखिल भारतवर्षीय जन मानस एवं विद्वत जन इस साहित्य का अध्ययन, अध्यापन कर सृष्टी की तात्विक गवेषणा एवं साहित्यक छटा से अपने जीवन को सुरभित करते हुए कृत कृत्य कर सकेंगे।

इसी चातुर्मास के मध्य अनेकानेक सामाजिक एवं धार्मिक उत्सव भी आयेगें जिस पर समाज को पूज्य मुनि श्री से सारगर्भित प्रवचन सुनने का मौका मिलेगा । आशा है इस वर्ष का भगवान महावीर का निर्वाण महोत्सव एवं पिच्छिका परिवर्तन कार्यक्रम अपने आप में अनूठा होगा । जो शायद पूर्व की कितनी ही परम्पराओं से हटकर होगा ।

अन्त में श्रमण संस्कृति के महान साधक महान तपस्वी, ज्ञानमूर्ति, चारित्र विभूषण, बाल ब्रह्मचारी परम पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री ज्ञानसागर जी महाराज के पुनीत चरणों में तथा उनके परम सुयोग्यतम शिष्य चारित्र चक्रवर्ती पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज और इसी कड़ी में पूज्य मुनि श्री १०८ श्री सुधासागर जी महाराज, क्षुल्लकगण श्री गम्भीर सागर जी एवं श्री धैर्य सागरजी महाराज के पुनीत चरणों में नत मस्तक होता हुआ शत्-शत् वंदन, शत्-शत् अभिनंदन करता हुआ अपनी विनीत विनयांजली समर्पित करता हूँ ।

इन उपरोक्त भावनाओं के साथ प्राणी मात्र के लिए तत्वगवेषणा हेतु यह ग्रन्थ समाज के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं । यह **स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म** पुस्तक श्री वाणीभूषण बा. ब्र. पं. भूरामल जी

शास्त्री ने लिखी थी, यही ब्र. बाद में आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के नाम से जगत विख्यात हुए ।

इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण श्री खजानसिंह विमलप्रसाद जैन, मंसुरपुर (मुजफ्फरनगर) से प्रकाशित हुआ था । उसी प्रकाशन को पुन: यथावत प्रकाशित करके इस ग्रन्थ की आपूर्ती की पूर्ती की जा रही है । अत: पूर्व प्रकाशक श्री खजानसिंह विमलप्रसाद जैन, मंसुरपुर (मुजफ्फरनगर) का दिगम्बर जैन समाज, अजमेर आभार व्यक्त करती है । एवं इस द्वितीय संस्करण में दातारों का एवं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष से जिन महानुभावों ने सहयोग दिया है, उनका भी आभार मानते हैं।

इस ग्रन्थ की महिमा प्रथम संस्करण से प्रकाशकीय एवं प्रस्तावना में अतिरिक्त है । जो इस प्रकाशन में भी यथावत संलग्न हैं ।

दिनाङ्क : 13-14-15 अक्टूबर 1994
वीरोदय महाकाव्य पर अ. भा. विद्वत संगोष्ठी

विनीत
श्री दिगम्बर जैन समिति
एवं सकल दिगम्बर जैन समाज
अजमेर (राज)

परम पूज्य
आचार्य 108 श्री ज्ञानसागरजी महाराज
सांख्यिकी – परिचय

प्रस्तुति - कमल कुमार जैन

पारिवारिक परिचय :

जन्म स्थान - राणोली ग्राम (जिला सीकर) राजस्थान
जन्म काल - सन् १८९१
पिता का नाम - श्री चतुर्भुज जी;
माता का नाम - श्रीमती घृतवरी देवी
गोत्र - छाबड़ा (खंडेलवाल जैन)
बाल्यकाल का नाम - भूरामल जी
भ्रात परिचय - पाँच भाई (छगनलाल/भूरामल/गंगाप्रसाद/गौरीलाल/एवं देवीदत्त)
पिता की मृत्यु - सन १९०२ में
शिक्षा - प्रारम्भिक शिक्षा गांव के विद्यालय में एवं शास्त्रि स्तर की शिक्षा स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस (उ. प्र.) से प्राप्त की ।

साहित्यिक परिचय :

संस्कृत भाषा में

* दयोदय / जयोदय / वीरोदय / (महाकाव्य)
* सुदर्शनयोदय / भद्रोदय / मुनि मनोरंजनाशीति - (चरित्र काव्य)
* सम्यकत्व सार शतक (जैन सिद्धान्त)
* प्रवचन सार प्रतिरुपक (धर्म शास्त्र)

हिन्दी भाषा में

* ऋषभावतार / भाग्योदय / विवेकोदय / गुण सुन्दर वृत्तान्त (चरित्र काव्य)
* कर्त्तव्य पथ प्रदर्शन / सचित्तविवेचन / तत्वार्थसूत्र टीका / मानव धर्म (धर्मशास्त्र)
* देवागम स्तोत्र / नियमसार / अष्टपाहुड़ (पद्यानुवाद)
* स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म और जैन विवाह विधि

चारित्र पथ परिचय :

* सन १९४७ (वि. सं. २००४) में व्रतरुप से ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण की ।
* सन १९५५ (वि. सं. २०१२) में क्षुल्लक दीक्षा धारण की ।
* सन १९५७ (वि. सं. २०१४) में ऐलक दीक्षा धारण की ।
* सन १९५९ (वि. सं. २०१६) में आचार्य १०८ श्री शिवसागर महाराज से उनके प्रथम शिष्य के रुप में मुनि दीक्षा धारण की । स्थान खानिया (जयपुर) राज । आपका नाम मुनि ज्ञानसागर रखा गया ।
* ३० जून सन् १९६८ (आषाड़ शुक्ला ५ सं. २०२५) को ब्रह्मचारी विद्याधर जी को मुनि पद की दीक्षा दी जो वर्तमान में आचार्य श्रेष्ठ विद्यासागर जो कि रुप में विराजित है ।
* ७ फरवरी सन् १९६९ (फागुन वदी ५ सं. २०२५) को नसीराबाद (राजस्थान) में जैन समाज ने आपको आचार्य पद से अलंकृत किया एवं इस तिथि को विवेकसागर जी को मुनिपद की दीक्षा दी ।
* संवत् २०२६ को ब्रह्मचारी जमनालाल श्री गंगवाल खाचरियावास (जिला-सीकर) रा. को क्षुल्लक दीक्षा दी और क्षुल्लक विनयसागर नाम रखा । बाद में क्षुल्लक विनयसागर जी ने मुनिश्री विवेकसागर जी से मुनि दीक्षा ली और मुनि विनयसागर कहलाये ।
* संवत् २०२६ मह्यं ब्रह्म. पन्नालाल जी को केशरगंज अजमेर (राज.) में मुनि दीक्षा पूर्वक समाधि दी ।
* संवत् २०२६ में बनवारी लाल जो मुनि दीक्षा पूर्वक समाधि दी।
* २० अक्टूबर १९७२ को नसीराबाद में ब्रह्म. स्वरुपानन्दजी को क्षुल्लक दीक्षा दी, जो कि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी के समाधिस्थ पश्चात् सन् १९७६ (कुण्डलपुर) तक आचार्य विद्यासागर महाराज के संघ में रहे ।
* २० अक्टूबर १९७२ को नसीराबाद जैन समाज ने आपको चारित्र चक्रवर्ती पद से अलंकृत किया ।
* क्षुल्लक आदिसागर जी, क्षुल्लक शीतलसागर जी (आचार्य महावीर कीर्ति जी के शिष्य भी आपके साथ रहते थे ।
* पांडित्य पूर्ण, जिन आगम के अतिश्रेष्ठ ज्ञाता आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने अपने जीवन काल में अनेकों श्रमण/आर्यिकाएँ/ऐलक/क्षुल्लक/ब्रह्मचारी/श्रावकों को जैन आगम के दर्शन का ज्ञान दिया।

आचार्य श्री वीर सागर जी/आचार्य श्री शिवसागर जी/आचार्य श्री धर्मसागर जी/आचार्य श्री अजित सागर जी / एवं वर्तमान श्रेष्ठ आचार्य विद्यासागर जी इसके अनुपम उदाहरण है ।

आचार्य श्री के चातुर्मास परिचय :

* संवत् २०१६ - अजमेर सं. २०१७ - लाडनू; सं. २०१८ - सीकर (तीनों चातुर्मास आचार्य शिवसागर जी के साथ किये)
* संवत २०१९ - सीकर; २०२० - हिंगोनिया (फुलेरा); सं. २०२१- मदनगंज - किशनगंढ़ सं. २०२२ - अजमेर; सं. २०२३ - अजमेर, सं. २०२४ - मदनगंज-किशनगढ़ सं. २०२५ - अजमेर (सोनी जी की नसियाँ); सं. २०२६ - अजमेर (केसरगंज); सं. २०२७- किशनगढ़ रैनवाल; सं. २०२८ - मदनगंज-किशनगढ़ सं. २०२९- नसीराबाद।

विहार स्थल परिचय :

* सं. २०१२ से सं. २०१६ तक क्षुल्लक/ ऐलक अवस्था में - रोहतक/हासी/हिसार/गुउगाँवा/रिवाड़ी/एवं जयपुर ।
* सं. २०१६ से सं. २०२९ तक मुनि/आचार्य अवस्था में - अजमेर/ लाडनू/सीकर/हिंगोनिया/फुलेरा/मदनगंज-किशनगढ़/नसीराबाद/बीर/ रुपनगढ़/मरवा/छोटा नरेना/साली/साकून/हरसोली/छप्या/दूदू/मोजमाबाद/ चोरु/झाग/सांवरदा/खंडेला/हयोढ़ी/कोठी/मंडा-भीमसींह/भींडा/ किशनगढ़-रैनवाल/कांस/श्यामगढ़/मारोठ/सुरेरा/दांता/कुली/ खाचरियाबाद एवं नसीराबाद ।

अंतिम परिचय

* आचार्य पद त्याग एवं संल्लेखना व्रत ग्रहण : मंगसर वदी २ सं. २०२९ (२२ नवम्बर सन् १९७२)
* समाधिस्थ :
  ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या सं. २०३० (शुक्रवार १ जून सन् १९७३)
* समाधिस्थ समय: पूर्वान्ह १० बजकर ५० मिनिट ।
* सल्लेखना अवधि : मास १३ दिन (मिति अनुसार)
  ६ मास १० दिन (दिनांक अनुसार)

दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अतिश्रेष्ठ अनुयायी के चरणों में श्रद्धेव नमन्। शत् शत् नमन ।

प्रथम संस्करण से

लेखक के दो शब्द

अनादि कालीन विश्वकल्याण कारक श्री जैन धर्म को मानने वाले लोगों की वर्तमान में दिगम्बर और श्वेताम्बर इस प्रकार दो सम्प्रदाय हैं । यों तो दोनों ही अहिंसा धर्म को मानने वाले हैं फिर भी उन में बहुतसी बातों में परस्पर में मत भेद हैं । जैसे कि एक तो नग्न दिगम्बर निर्विकार शान्तमुद्रा की उपासना करता है किन्तु दूसरा श्रृङ्गारित मूर्ति को मानने लग गया है इत्यादि बातों को लेकर परस्पर में संघर्ष चलता है आये दिन झगड़े होते हैं दिन पर दिन कलह बढ़ता ही जा रहा है । जो कि आज इस मिलकर चलने योग्य समय में शोभा नहीं देता । इसलिये कुछ उदार महानुभाव इन दोनों को मिलाने की कोशिश कर रहे हैं और यह उनका विचार बहुत सुन्दर है हम भी उसके समर्थक हैं परन्तु इस के लिये उन्होंने जो मार्ग पकड़ा है उसके ऊपर थोड़ा विचार है । दवा रोगी को दी जाया करती है नकि उस के बदले में निरोगी को । विकारी का विकार हटाकर निर्वीकारक बनाना तो ठीक है प्रत्युत विकार हीन को भी विकारी बना कर दोनों को एक करना भूल से खाली नहीं । किन्तु आज कुछ महानुभाव ऐसा ही करना चाहते हैं-जो कुछ ढीलापन हमारी श्वेताम्बर सम्प्रदाय था उस के मान्य आगमों में समाविष्ट हो गया है उसे ही येन केन प्रकारेंण दिगम्बर सम्प्रदाय के शास्त्रों में भी बताकर दोनों को एक दिखाने की चेष्टा कर रहे हैं । जिन आचार्यों की उक्तियों में किसी भी तरह अपना कदम जमते देखा उन्हें तो खेंचतान कर

अपना लिया और जहाँ जिन्हें अनुकूल पड़ते न देखा उन्हें कोश डाला गया उसे उनकी अपनी बात बताकर अप्रमाण ठहरा दिया गया । भले ही वह उनकी बात सनातन परम्परागत एवं पूर्णतया सत्य प्रमाणभूत ही क्यों न हो । इस बात के शिकार खासतौर पर हमारे श्रद्धेय आचार्य कुन्द कुन्द बनाये गये हैं । क्योंकि उनकी उक्तियाँ अपने विषय को स्पष्ट असंदिग्ध रूप से प्रतिपादन करने वाली हैं । उनको किसी भी तरह से और रूप में नहीं बदला जा सकता । अतः उन्हें आधुनिक बताकर उनपर से होने वाली धार्मिक समाज की अटूट श्रद्धा को ढीला करने की कोशिश की जा रही है । बस इसी अवर्णवाद को दूर हटाने के लिये मैंने इस लेख के लिखने का प्रयास किया है । मतलब यह कि स्वामी कुन्दकुन्द बहुत प्राचीन हैं । प्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रन्थषट् खण्डागम के जन्मदाता धरसेनाचो से भी यह पहले हो गये हैं । एवं एक प्रमाणिक आचार्य है जिन की मान्यताओं का समर्थन स्वयं श्री गोतम स्वामी की उक्तियाँ भी कर रही है । तथा इतर दिगम्बर जैनाचार्यों ने ही नहीं बल्कि श्वेताम्बर जैनाचार्यों ने भी उन्हें अपने ग्रन्थों में गौरव के साथ अपनाया हैं । यही इस निबन्ध में बतलाया गया है ।

हाँ यह बात दूसरी कि श्वेताम्बर ग्रन्थों में जिस प्रकार भी कुन्दकुन्द स्वामी के सिद्धान्तों का समादरण है उसी प्रकार वहाँ उन से विरूद्ध पड़ने वाली बातों का भी उल्लेख है । इतना ही नहीं अपितु वहां पर हमें ऐसी बातें भी देखने को मिलती हैं जिन का कि नाम लेते हुये भी भले आदमी को शर्म मालूम हो परन्तु इस ऐसा होने में या तो उन लेखकों का प्रमाद हो गया हुआ प्रतीत होता है । या किसी भले मानुष के द्वारा बाद में उनमें वे सब बातें प्रविष्ट कर दी गई हैं । हम तो यही समझते हैं कि विज्ञ पाठक हमारे इस नम्र निवेदन पर ध्यान देंगे ।

प्रथम संस्करण से

सूचना

आज हम अपने पाठकों की सेवा में स्वामी कुन्द-कुन्द और सनातन जैन धर्म नाम की पुस्तक उपस्थित कर रहे हैं । इस में अनेक शिला लेख वगैरह ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध कर बतलाया गया है कि हमारे आराध्य स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य महाराज साक्षात् श्री भद्रवाहु श्रुत केवली के शिष्य हुवे हैं, और वर्तमान दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के ग्रन्थ निर्मापक आचार्यों से सर्व प्रथम ग्रन्थ कर्ता एवं एक प्रभावक महापुरुष हो गये हैं। जिन्होंने कि श्री वर्द्धमान भगवान के शासन को केवली और श्रुत केवलियों के बाद में काल दोष की वजह से दूषित होने से बचाया, और अपने ग्रन्थों में निर्भीकता के साथ शिथिलाचार की समालोचना करते हुये सनातन जैन धर्म का प्रतिपादन किया है ।

यह पुस्तक विद्या वारिधि सिद्धान्त रहस्यज्ञ वाणी भूषण श्रद्धेय ब्रह्मचारी पंडित भूरामल जी महाराज की लेखनी से लिखी हुई है। आप संस्कृत के अपूर्व विद्वान हैं, और आप को संस्कृत भाषा से पूर्ण प्रेम है, इसलिए आप ने उस में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। जिन में से एक जयोदय महाकाव्य तो श्री १०८ शअरी वीर सागर संघ की तरफ से प्रकाशित हो चुका है जो कि अद्वितीय विद्वता और काव्य कला पूर्ण है ।

दूसरा ग्रन्थ वीरोदय काव्य है जिस में श्री वीर भगवान का चरित नवीन शैली में बड़े ही उत्तम ढंग से प्रतिपादित है । वह भी कविता वद्ध है परन्तु इसकी कविता उतनी क्लिष्ट न होकर करीब-करीब चन्द्रप्रभ काव्य के प्रथम सर्ग सरीखी है । साथ में संस्कृत टीका और हिन्दी अर्थ भी महाराज ने दे दिया है । यह ग्रन्थ वनारस प्रेस में पंडित पन्नालाल जी माल थोन की मारफत दिया हुआ है । तीसरा ग्रन्थ सुदर्शनोदय है जिस में श्री सुदर्शन सेठ का चरित अनेक प्रकार के भजनों में बड़ी रोचकता के साथ संस्कृत में ही लिखा हुआ है । चौथा ग्रन्थ दयोदय है जोकि मृग सेन धीवर की कथा को लेकर संस्कृत में ही हितोपदेश के ढंग पर लिखा गया है जिस के प्रकाशित होने की बड़ी आवश्यकता है ।

अस्तु इन्हीं महाराज ने मंसूरपुर की समाज के अनुरोध से यह निबन्ध लिखा है जिसको दिगम्बर श्वेताम्बर जैनाजैन सभी के लिये उपयोगी समझ कर मंसूरपुर के श्रीमान् खजानसिंह विमल प्रशाद ने प्रकाशित करवाया है ।

❖ ❖ ❖

॥ ओम नमः सिद्धेभ्यः ॥

नमः श्री कुन्द कुन्दाय जैन धर्म प्रभाविने।
सीमन्धर पदाम्भोज-भ्रमराय महात्मने १ ॥

आज मैं अपने पाठकों को इस निबन्ध से यह बतलाना चाहता हूँ कि श्रीमान् कुन्दकुन्दाचार्य कबहुये और उनका दिगम्बर जैन सम्प्रदाय से क्या सम्बन्ध हैं। श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के बारे में दो दन्त कथायें प्रचलित हैं :—

पहली कथा :—

पिदठनाडु जिले में कुरुमराई नगर में करमण्डु नामक व्यापारी के श्रीमती नाम की पत्नी थी। उनके मतिवर नाम का ग्वाला रहता था। एक रोज गायें चराते हुए जङ्गलमें दीख पड़ा कि इधर-उधर का बहुतसा जङ्गल तो दावाग्नि से जल गया है बीच में कुछ पेड़ खड़े हुये हैं। वहां जाकर देखा तो एक साधु आश्रम-स्थान बना हुआ है और वहां कुछ शास्त्र एक पेटी में रक्खे हुए हैं। उसने सोचा कि इन शास्त्रों के प्रभाव से ही ये सब पेड़ बचे हैं। अस्तु। उसने उन शास्त्रों को उठा लिया और घर लाकर पूजने लगा। अब एक रोज

चर्या करते हुये एक साधु आनिकले। साधु जी का आहार सेठ के यहां हुवा। ग्वाले ने साधुजी को वे सब शास्त्र भेंट में दिये। साधु जी ने सेठ को और ग्वाले को धर्मवृद्धि दी। कुछ दिन बाद वही ग्वाला मरकर के सेठ के पुत्र हुवा जो कि कुन्दकुन्दाचार्य हुवा।

दूसरी कथा :—

मालव देश के बारा नगर में कुमुदचन्द राजा राज्य करता था जिसकी राणी का नाम कुमुदचन्द्रका था। वहीं एक कुन्दश्रेष्ठी था जिसके कुन्दलता नाम की सेठानी थी। उनके कुन्दकुन्द नाम का पुत्र हुवा जो कि एक दिन जिन चन्द्रमुनि के उपदेश से ११ वर्ष की उम्र में मुनि हो गया। उसे तेंतीस वर्ष की उम्र में आचार्य पद मिला। एक दिन ध्यान करते हुये कुछ शङ्का होने के कारण कुन्द-कुन्द स्वामी ने श्रीसीमन्धर स्वामी को स्मरण कर नमस्कार किया तो भगवान् ने धर्मवृद्धि दी। इस पर वहां सभा के लोगों को आश्चर्य हुवा कि यह धर्मवृद्धि किस को दी गई। भगवान् बोले कि भरत क्षेत्र में एक कुन्द-कुन्द मुनि हैं उन्होंने मुझे नमस्कार किया है। यह सुनकर वहां से दो चारण मुनि जो कि पूर्वभव में कुन्द-कुन्द स्वामी के मित्र थे वे दोनों कुन्द-कुन्द के पास आये और उन्हें विदेह में लिवा ले गये। स्वामी जी वहां सात रोज रहे। भगवान् सीमंधर स्वामी के पास अपनी सारी शङ्कावों का समाधान किया फिर वापिस भारत में आगये। और धर्म प्रचार किया। सात सौ स्त्री- पुरुषों ने उनसे दीक्षा ली। कुछ समय बाद श्वेताम्बरों के साथ गिरनार पर्वत पर विवाद हुआ। श्वेताम्बरों से विवाद होने का उल्लेख शुभचन्द्रकृत पाण्डव पुराण में भी आया है एवं गुर्वावली में भी है। बारा नगर में स्वामी कुन्द-कुन्द का समाधिस्थान बना हुआ है। अस्तु। इन दोनों ही कथावों से कुन्द-कुन्द के समय का कुछ पता नहीं चलता हां, श्वेताम्बर सम्प्रदाय कहता है कि श्री वीर निर्वाण सम्वत् ६०९ में

श्री बज्रसेनसूरि के समय में दिगम्बर मत हुवा जिस के कि मूल प्रचारक कुन्द-कुन्द थे।

इधर दिगम्बर सम्प्रदाय की पट्टावलियां भी इस विषय में भिन्न-भिन्न हैं कि कुन्द-कुन्द कब हुये। हां दिगम्बर जैनों की परम्परागत मान्यता है कि कुन्द-कुन्द स्वामी ईस्वी सन् पूर्व १ली सदी में तेतीस वर्ष की उम्र में आचार्य पद पर बैठे। बावन वर्ष उस पर रहे, ८५ वर्ष में स्वर्ग गये। एक पट्टावली बतलाती है कि ईस्वी सन् ९२ में विक्रम सम्बत १४९ में उन्होंने आचार्य पद प्राप्त किया। एवं विद्वज्जन वोधक में उद्धृत एक श्लोक में महावीर स्वामी के ७७० वर्ष में ईस्वी सन् २४३ में कुन्द-कुन्द जन्मे। जो कि तत्वार्थ सूत्रकार उमास्वामी के समकालीन थे इत्यादि।

बल्कि कुछ ऐतिहासिक विद्वान तो स्वामी कुन्द-कुन्द को विक्रम की छठी शताब्दी का वीरनिर्वाण सं. १००० से भी बाद का विद्वान स्वीकर करते हैं और वे अपने इस विचार की पुष्टि में यह हेतु रखते हैं कि त्रिलोक प्रज्ञप्ति में महावीर स्वामी के स्तवन की एससुरासुर मणुभिंद वंदियम् इत्यादि गाथा है। प्रवचन सार में भी वह गाथा मूलमङ्गलाचरण के रूप में ग्रहण की हुई है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति कारयति वृषम विक्रम की छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुये हैं क्योंकि उन्होंने गुप्तवन्श का तथा उसके नाश करने वाले कल्किका वर्णन त्रिलोक प्रज्ञप्ति में किया है।

परन्तु जरा गहराई से सोचने पर मालूम होता है कि इस गाथा को प्रवचनसार पर से त्रिलोक प्रज्ञप्तिकार ने ग्रहण की है ने कि त्रिलोक प्रज्ञप्ति पर से प्रवचन सारकार ने, क्योंकि प्रवचनसार में वह गाथा मूलमङ्गलाचरण के रूप में इस ही तरह से अङ्कित है कि वहां से हटाई नहीं जासकती। त्रिलोक प्रज्ञप्ति एक संग्रह ग्रन्थ है अत: वहां पर उसे प्रवचनसार से ग्रहण करना कोई बड़ी बात नहीं। इस हमारे कहने का समर्थन इसलिये

भी हो जाता है कि विक्रम की पांचवी शताब्दी में होने वाले श्री पूज्य पादाचार्य ने अपनी सर्वथा सिद्धि में श्री कुन्दकुन्दाचार्य के बार सअणुवेक्खा नाम के ग्रन्थ की गाथावों को लिया है। अत: उससे आगे तो कुन्द-कुन्द माने ही नहीं जा सकते।

किश्नकुर्ग इन्सक्रिप्शंस में मर्कराका एक ताम्र पत्र प्रगट हुआ है उसमें कुन्दकुन्दान्वय के छह आचार्यों का उल्लेख है और उसके लिखे जाने का समय ३८८ भी उस में दिया है। अब इन छ: आचार्यों का समय १५० वर्ष भी मान लिया जाये तो ताम्र पत्र में उल्लिखित आदिम श्रीगुणनन्दी का समय शक संवत २३८ एवं विक्रम संवत ३७३ के लगभग होता है। अब गुणनन्दीआचार्य भी कुन्द-कुन्दान्वयके प्रथम पुरुष नहीं थे किन्तु उनकी परम्परा में हुये थे। मतलब कि कुन्दाकुन्दान्वय पहले ही से प्रचलित थी।

हां श्री नाथू राम जी प्रेमी का कहना है कि यहां पर कुन्द-कुन्दान्वयका अर्थ कुन्दकुन्दपुर लेना चाहिये क्योंकि नियमसार में लोक विभाग नाम के ग्रन्थ का उल्लेख है। और वर्तमान में जो संस्कृत लोक विभाग पाया जाता है उसके अन्त में लिखा है कि पहले सर्वनन्दि आचार्य ने एक सम्वत ३८० में लोक विभाग रचा। उसीकी भाषा को परिवर्तित करके यह संस्कृत लोक विभाग रचा गया है। निष्कर्ष यह निकला कि कुन्द-कुन्द ने अपने नियमसार में शक सम्वत ३८० में रचे गये हुये लोक विभाग का उल्लेख किया अत: वे मर्कराताम्रपत्र में उल्लिखित कुन्दकुंदान्वय के प्रवर्तक नहीं हो सकते। नियमसार की गाथा:—

माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममही भोगभूमिसंजादा।
सत्तविहाणेरइया णादव्वा पुढविभेयेण ॥२६॥

चउदहभेया भणिया तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेया।
एदेसिंवित्थारं लोग विभागेसु णादव्वं ॥२७॥

अब वर्तमान लोकविभाग में और जीवों का तो थोड़ा बहुत वर्णन मिलता भी है किन्तु तिर्यञ्चों के चौदह भेदों का तो नाम भी नहीं है अतः मानना पड़ता है कि नियमसार में उल्लिखित लोक विभाग कोई और ही है।

त्रिलोक प्रज्ञप्ति में भी जिस लोक विभाग के उद्धरण दिये गये हैं वह भी वर्तमान लोक विभाग में नहीं हैं। अस्तु।

इन्द्रनन्दी और विवुध श्रीधर ने अपने-अपने श्रुतावतार में जो गुर्वावली दी है वहां बतलाया है कि श्री महावीर स्वामी के निर्वाण होने के अनन्तर क्रमशः ६८३ वर्ष में ६२ में तो तीन केवली फिर १०० वर्ष में पांच श्रुतकेवली १८३ वर्ष में ११ दश पूर्वधर २२० वर्ष में चार आचाराङ्ग धारी हुये। छहसौतिरासी वर्ष बाद अङ्ग ज्ञान लुप्त हो गया। तब उसके कुछ समय बाद या उसी समय में धरसेनाचार्य ने पुष्पदन्त और भूतवलि को जो कुछ विद्या पढ़ाई उसके आधार पर उन्होंने षट् खण्डागम रचकर जिन पालित को पढ़ाया।

इधर गुणधरनाम के दूसरे एक आचार्य ने कषायप्राभृत लिखा और उसे आर्य मंक्षु और नागहस्ती ने पढ़ा। इन दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों पर कुन्दकुन्दाचार्य ने टीका लिखी इत्यादि। हां, इन्द्रनन्दी ने लिखा है कि धरसेन कब हुये और किस परम्परा में किस आचार्य के शिष्य हुए यह स्पष्ट नहीं है।

श्री धरसेनाचार्य ने वीर निर्वाण सं० ६०० में एक योनिप्राभृतग्रन्थ लिखा ऐसा माना जाता है जिसका कि उल्लेख जोणि पहाड़े भणिदमन्त तन्त सत्तीवो पोग्गलाणुभागोतिधेतव्वो. (धवला अ.प्रति पत्र ११९८) इस

रूप से धवला में भी लिखा मिलता है। इस योनिप्राभृत की एक प्रति पूना की लायब्रेरी में मौजूद है। वहां पर भी इसका नाम योनिप्राभृत है जिसके कर्ता का नाम वहाँ पण्णासभण (प्रज्ञा श्रवण) मुनि लिखा है। मुनिराज ने इसे कुष्माण्डिनी देवी से प्राप्त किया था और अपने शिष्य पुष्पदन्त एवं भूतवली को पढ़ाया था ऐसा लिखा है। प्रज्ञाश्रवणा एक प्रकार की बुद्धिका नाम है जो कि धरसेन जी को प्राप्त थी। बल्कि १५५६ की साल में लिखी हुई वृह टिप्पणी नाम ग्रन्थ सूची में तो इसे स्पष्ट रूप से धरसेनकृत एवं वीरनिर्वाण ६०० में बना लिखा है।

नन्दी संघ की पट्टावली पर से भी धरसेन का समय वीरनिर्वाण ६०० के लगभग पड़ता है। क्योंकि वहां पर तीन केवलियों का समय ६२ वर्ष, पांच श्रुतकेवलियों का १०० वर्ष ११ दश पूर्वधरोंका १८१ वर्ष बताकर पांच ग्यारह अङ्गधारियों का १२३ वर्ष। फिर सुभद्र १ यशोभद्र भद्रवाहु ३ और लोहार्य अथवा कुन्दकुन्द इन का समय ९७ वर्ष इसके बाद अर्हद्वलि १ माघनन्दी २ धरसेन ३ पुष्पदन्त भूतवलि का समय ११८ वर्ष लिखा है अर्थात् वहां ६८१ या ८३ वर्ष के भीतर ही भूतवलि तक आजाते हैं और धरसेनाचार्य ६१४ वर्ष में सिद्ध होते हैं। और यह कुछ दिलको लगता भी है क्योंकि पूर्व में जो चार आचाराङ्ग धारियों का काल २२० वर्ष लिखा है वह कुछ अधिक सा ही प्रतीत होता है।

अब अगर कुन्दकुन्द ने धरने के षट्खण्डागम पर टीका लिखी यह बात सत्य कही जाय तो फिर कुन्द-कुन्द का समय उससे पहले नहीं माना जा सकता किन्तु जब तक वह उपलब्ध नहीं तो पूरा विश्वास भी कैसे किया जा सकता है।

हां षट्खण्डागम की धवला टीका में एक परिकर्म नामक ग्रन्थ का उल्लेख कई जगह पर आया जरूर है किन्तु वह कुन्द-कुन्द कृत है ऐसा कहीं भी नहीं बतलाया है। विद्वज्जनबोधक में जो ७७० वीरनिर्वाण

सम्वत में कुन्द-कुन्द का जन्म लिखा है वहां उन्हें तत्वार्थ सूत्रकार उमास्वामिका समकालीन भी लिखा है परन्तु उमास्वामी श्वेताम्बरोंकी तपागच्छ पट्टावली के आधार पर वीरनिर्वाण सम्वत ३७६ से भी पहले हो गये क्योंकि वहां लिखा है कि स्थूल भद्र के बाद में महागिरि हुए। उनके दो शिष्य वहल और वलिस्सह यमल थे। उन में से वलिस्सह के शिष्य उमास्वामी हुये जो कि तत्वार्थ सूत्र के कर्ता हुये। इस के बाद श्यामाचार्य हुये जो वीर नि. ३७६ में स्वर्ग गये। तपागच्छपट्टावली के अनुसार यशोभद्र के शिष्य सम्भूतिविजय हुये जिन के कि गुरु भाई भद्रवाहुश्रुत केवली हुए। उन्हीं सम्भूतिविजय के शिष्य स्थूल भद्र हुए। जो कि वीरनिर्वाण १७० में स्वर्ग जानें वाले भद्रवाहु केवली के बाद तक जीवित रहे। उन स्थूल भद्र के शिष्य महागिरि और सुहस्ती हुये। सुहस्ती ने सम्प्रति राजा को जैन बनाया। महागिरि के प्रशिष्य और वलिस्सह के शिष्य उमास्वामी आचार्य थे। मतलब कि उमा स्वामी वीर भगवान की तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुये। एवं उमास्वामी के समय में होने वाले कुन्दकुन्द भी फिर वीर निर्वाण २०० से बाद में ३०० से पहले ही हो लिए समझना चाहिये। हां, तत्वार्थ सूत्र पर तत्वार्था धिगमभाष्य के कर्ता उमास्वातिवीरनि. ११९० में हुए, वीर प्रभसूरि और यशोदेवसूरिके अन्तराल में जिनभद्रगणि के उत्तर में हुए जिनका कि कुन्दकुन्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। क्योंकि ये तो पूज्य पाद से भी बाद में हुए जिन पूज्यपाद ने अपनी तत्वार्थ सूत्र की टीका सर्वार्थ सिद्धि में कुन्दकुन्द की बारह अणुवेक्खा की गाथायें ली हैं।

नन्दी संघ की गुर्वावली की संस्कृत को जब हम देखते हैं तो वहां और ही कुछ पाते हैं। उस में सब से पहले श्रीभद्रवाहु और उनके शिष्य गुप्ति गुप्त को नमस्कार करके नन्दी संघ की पट्टावली शुरू होती है जिस में माघनन्दी १ जिनचन्द २ फिर पद्मनन्दी अर्थात् कुन्द-कुन्द का नाम है। यथा—

श्रीमानशेष नरनायक बन्दितांघ्रिः श्रीगुप्ति गुप्तइ
तित्थयरे नाम धेयः ।
यो भद्रवाहु मुनिपुङ्गव पट्टपद्म-सूर्यः सवोदिशतु
निर्मलसंघ वृद्धि ॥१॥
श्री मूलं संघेऽजनिनन्दि संघ स्तस्मिन्वलात्कार
गणोऽतिरम्यः ।
तत्राभवत् पूर्व पदां शवेदी श्री माघनन्दी नरदेववन्धः॥२॥

इन श्लोकों में जो माघ नन्दी आये हैं और जिन्हें पूर्व पदाशवेदी लिखा है वे माघ नन्दी वे ही हैं जो पूर्व पट्टावली में धरसेन से पूर्व में अङ्कित हैं परन्तु यहां पर उनका शिष्य धरसेन न होकर जिनचन्द्र है। इसका मतलब यह प्रतीत होता है कि धरसेन सम्भवतः विद्या प्रेमी हों, अतः वे संघ से अलहदा रह कर विद्याभ्यास करते हों और ऐसी हालत में संघ संचालन का भार जिनचन्द्र को दिया गया हो जिनके कि शिष्य कुंद- कुंद लिखे गये हुये हैं। इधर विद्या देकर पुष्पदन्त और भूतवलि द्वारा धरसेन जी ने अपनी विद्या को स्थिर रखने का प्रयास किया हो। अस्तु।

श्रवण बेल गोलाके शिला लेख नं. १०५ में पुष्पदन्त और भूतवलि को अर्हद्वलि का साक्षात् शिष्य लिखा गया है देखो—

यः पुष्पदन्तेनच भूतबल्या-ख्येनापि शिष्य द्वितयेन रेजे
फल प्रदानाय जगज्ञनानां प्राप्तोऽङ्कु-राणा भिव
कल्पभूजः ॥२५॥
अर्हद्वलिसंघ चतुर्विधंस श्री कौण्ड कुण्डा न्वयमूलसंघं ।

कालस्वभावादिह जाय मान-द्वेषेतराल्पी करणाय चक्रे ॥२६॥ शंक सं. १३२०

हो सकता है कि पुष्पदन्त और भूतवलि के दीक्षा गुरु अर्हद्वलि हों। धरसेनाचार्य ने जिस मुनि सम्मेलन को पत्र दिया वह अर्हद्वलिजी का ही युगप्रतिक्रमण के समय एकत्रित किया हुआ मुनि समाज हो और वहीं से उन्होंने अपने मुख्य शिष्य तीव्रबुद्धि पुष्पदन्त और भूतवलि को धरसेन के पास भेजा हो।

इसी शिलालेख पर से एक बात और निकलती है कि श्री कुन्दकुन्द की अन्वय-आम्नाय अर्हद्वलि के पहले से ही चली आ रही थी जिसका कि नाम मूलसंघ (सदा से चले आये हुये मूल जैन सिद्धान्त को मानने वाला) था उसको अर्हद्वलि ने चार भागों में विभक्त किया। अत: अब कम से कम हमारा ध्यान पट्टावली के उस अंश पर जाता है जो कि जयधवला की प्रस्तावना के पृष्ट ६० पर उल्लिखित है—

१	कुन्द कुन्द	५१५	५१९	वीरनिर्वाणसम्वत्
२	अर्हद्वलि	५२०	५६५	वीरनिर्वाणसम्वत्
३	माघनन्दी	५६६	५९३	वीरनिर्वाणसम्वत्
४	धरसेन	५९४	६१४	वीरनिर्वाणसम्वत्
५	पुष्पदन्त	६१५	६३३	वीरनिर्वाणसम्वत्
६	भूतवलि	६३४	६६६	वीरनिर्वाणसम्वत्
७	लोहाचार्य	६६४	६८७	वीरनिर्वाणसम्वत्

गोतम १ सुधर्म २ जम्बू स्वामी ३ केवली। विष्णु ४ नन्दीमित्र ५ अपराजित ६ गोवर्द्धन ७ भद्रवाहु ८ (श्रुतकेवली) विशाख ९ प्रोष्ठिल १० क्षत्रिय ११ जयसेन १२ नागसेन १३ सिद्धार्थ १४ धृतिषेण १५ विजय १६ बुद्धिलङ्ग १७ देव १८ धर्मसेन १९ नक्षत्र २० जयपाल २१ पाण्डव

२२ ध्रुवसेन २३ कंस २४ (ग्यारहअङ्गधर) सुभद्र २५ यशोभद्र २६ भद्रवाहु २७ लोहाचार्य (कुन्द-कुन्द) २८ अर्हद्वलि २९ माघनन्दी ३० धरसेन ३१ पुष्पदन्त ३२ भूतवलि ३३ लोहाचार्य ३४ (एकाङ्गधारी) इस प्रकार ६८३ वर्ष या पांचसो पैसठ वर्ष में हुये यह निष्कर्ष आया है और इससे कुंदकुंद भद्रवाहु के शिष्य भी सिद्ध हो जाते हैं और इसलिये समयसार की टीका आत्मख्याति के भाषाकार पं. जयचन्द जी छावड़ाने अपनी प्रस्तावना में विक्रम सम्वत ४९ में कुन्दकुन्द का होना लिखा है जो कि ईसा की प्रथम शताब्दी में एलाचार्य नामक जैन साधु द्वारा रचा हुवा माना जाने वाले कुरल काव्य के भी अनुकूल पड़ता है। एलाचार्य कुन्दकुन्द का दूसरा नाम है।

यद्यपि एलाचार्य एक और भी हो गये हैं जो कि धवलाकार वीरसेन के गुरु थे। किंतु वे तो इस ग्रन्थ के बहुत बाद में हुये हैं। अतः यह ग्रन्थ भी कुन्दकुन्द कृत ही माना जाकर अधिक इतिहासकारों के द्वारा श्री कुन्दकुन्द स्वामी का समय विक्रम की प्रथम शताब्दी ही स्वीकार किया गया है।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर से कुन्दकुन्द का समय

स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य ने बोध पाहुड़ में अपने आप को साक्षात् रूप से श्री भद्रवाहु श्रुतकेवली का शिष्य लिखा है देखो बोध पाहुड़ में—

सद्दविकारो हूवो भासा सूत्तेसु जंजिणे कहियं।
सोतह कहियंणाणं सीसेणय भद्दवाहुस्स ॥६२॥
बारस अङ्गवियाणं चउदस पूव्वङ्ग विउल वित्थरणम्।
सुयणाणिभद्रबाहू गमयगुरू भयवबोजयऊ ॥६२॥

शब्द विकार रूप से परिणत हुआ जिसे कि जिनेन्द्र भगवान् ने भाषा सूत्रों में कहा। उसे उसी प्रकार जानकर भद्रवाहु के शिष्य मैंने भी कहा है। जो द्वादशाङ्ग के ज्ञान से युक्त हैं और १४ पूर्वाङ्ग के विस्तार को लिये हुए हैं ऐसे श्रुत ज्ञाना- गमक गुरु भगवान भद्रवाहु जयवन्त रहो।

एवं जबकि एक महाव्रती वीतराग मुनि अपनी लेखनी से जिस बात को लिख रहे है वह बात बिल्कुल विश्वास करने योग्य है। उसके आगे शिलालेख, ताम्रपत्र आदि सामग्री कोई मूल्य नहीं रखती क्योंकि वे सब जनश्रुति एवं स्मृति पर से पैदा हुई चीजें हैं।

किन्तु कुछ विद्वान लोग कुन्दकुन्द स्वामी को इतना प्राचीन मानने में संकोच करते हैं। मुनि कल्याण विजयजी कहते हैं कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में भट्टारक शब्द आया है जो कि विक्रम की सातवीं शताब्दी से पहले काम में नहीं लिया जाता था। किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि शक सम्वत ३८८ के ताम्रपत्र में भी भट्टारक शब्द का उल्लेख है एवं विक्रम की पांचवी शताब्दी में होने वाले गुप्तवंशी नरेशकुमार

गुप्त के सिक्कों में भट्टारक शब्द का उल्लेख है तब यह कैसे माना जाये कि भट्टारक शब्द अर्वाचीन है। दूसरी आपत्ति यहकि कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने समयसार में लिखा है कि लोगों के विचार में प्राणियों को विष्णु बनाता है इत्यादि। यह कर्त्ता मानने वाले वैष्णव सम्प्रदाय की उत्पत्ति ईसा की तीसरी शताब्दी में हुई थी अतः कुन्द-कुन्द उससे बाद में हुये हैं ऐसा किन्तु उन्हें सोचना चाहिये कि विष्णु देवता तो वैदिक कालीन हैं अतः वैष्णव सम्प्रदाय की उत्पत्ति से पहले भी विष्णु को कर्ता माना जाता हो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि कर्तृत्ववाद की भावना बहुत पुरानी है।

इसी प्रकार शिवादि भी पोराणिक काल के देवता नहीं हैं देखो 'हिन्दुतत्वज्ञाननों इतिहास' में—आर्योंनारुद्राणी अनेद्राविडोना-शिवानी भावनानुं सम्मेलन रामायण पहिला थयेलूं जणाये छै ईश्वी सन् पूर्व ५०० ना आरसामां हिन्दुवोंनो वैदिक धर्म तामील देशमां प्रवेश पाम्यो त्यारे विष्णु अने शिव सम्बन्धी भक्ति भावना क्रमशः संसार अने त्यागने पोषनारी दाखिल थवां पामी। बन्ने प्रणालिका अविरोधी भावथी टकी रहीं। परन्तु जोर बौद्धीये अने जैनोयेतेवेदेवोनी भावना ने डगाववां प्रयत्न कर्या त्यारे प्रत्येक प्रणालिकाये पोतपोताना देवनी महत्ता वधारी अनुयायियोंमां विरोध जगाव्यो। ....इससे स्पष्ट है कि द्रविड़ देश में बहुत पहले ही से शिव की उपासना होती थी ताकि कुंद-कुंद ने अपने ग्रन्थ में विष्णु और शिवादि देवताओं का उल्लेख कर दिया इतने मात्र पर से पौराणिक काल के नहीं कहे जा सकते। प्रत्युत उन्हें उसी समय के विद्वान् मानना चाहिए जबकि तामील देश में उक्त भावना प्रबल हो रही थी।

इसी प्रकार चैत्यगृहआयतन और प्रतिमा की चर्चा करने से चैत्यवास के समय के, यन्त्र मन्त्र तन्त्रादिका उल्लेख करने से तान्त्रिक मत के समय के विद्वान् नहीं बताये जा सकते हैं। जिनालय और जिनबिम्बों के निर्माण की प्रथा चैत्यवास से सम्बन्ध नहीं रखती बल्कि चैत्यवास

चला। इसी से तो स्पष्ट होता है कि चैत्यालय पहले ही से चले आये हुए हैं। यन्त्रमन्त्रादिके कारण दान देने की प्रवृत्ति तो किसी सम्प्रदाय के उद्भव से सम्बन्ध न रखकर भद्र लोगों की नैसर्गिक रुचि को द्योतित करती है। अत: इन सब बातों से कुन्दकुन्द को विक्रम की छठी शताब्दी का मानना शोभा नहीं देता।

हां स्वामी कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में शिवभूतिका और शिवकुमार का उल्लेख किया है अत: इन शिव भूति को, श्वेताम्बरों की परम्परा के धनगिरि के शिष्य, जिन्होंने कि बोटिक संघ की स्थापना की थी और जिनके शिष्य भद्र हो गये, एक मान कर के मिस्टर प्रोफेसर हीरालाल जी सरीखे विद्वान् स्वामी कुन्दकुन्द को उनका प्रशिष्य बतलाते हैं। वे लिखते हैं कि मेरे मतानुसार निर्युक्तियों के कर्त्ता और कुन्दकुन्द के गुरु, आप्तमीमांसा के कर्त्ता एवं बनवासी गच्छ के संस्थापक चन्द्रकुल के नायक तथा द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी करके दक्षिण की यात्रा करने वाले आचार्य सब एक व्यक्ति हैं और वह व्यक्ति था शिवार्य का शिष्य इत्यादि। परन्तु यह कभी सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि प्रथम तो इन सब का काल भिन्न-भिन्न है। निर्युक्तिकार भद्रवाहु विक्रम की छठी शताब्दी में हुये हैं जों कि प्रसिद्ध ज्योतिष बराहमिहिर के भाई थे। वराहमिहिर ईस्वी सन् ५०५ से ५८१ तक हुवा है ऐसा सिद्ध हो चुका है किन्तु धनगिरि के शिष्य वीर निर्वाण ६०९ में हुये हैं।

बनवासी गच्छके संस्थापक सामन्त भद्र और दिगम्बर सम्प्रदाय के समन्तभद्र का समय (इतिहासवेत्ताओं के अनुमान् से) यद्यपि करीब में पड़ता है किन्तु सामन्त भद्र का गुरु शिष्य वगैरह संबन्ध कुछ और है तो श्री समन्तभद्रका कुछ और ही।

दूसरा द्वादश वर्षीय दुर्भिक्षभी जिसका कि वर्णन श्वेताम्बरों के यहां पर मिलता है वह बज्र स्वामी के समय में हुवा है जैसा कि

आवश्यक सूत्र चूर्णि, भा. १ पत्र ४०४ निर्युक्तिगाथा ७७६ की वृत्ति में—इतोवईर साभी दक्खिणवहे विहरति। दुब्भिरवं च जायं वारसवरिसरां।

सव्वतो समन्ता छिन्न पंथा। निराधारं जादं। ताहे वइरसा भी दक्खिण वहेवहिरति दुब्भिरवं च जाय वार सवरीसंग। सव्वतो समन्ताछिन्न पथा। निराधारं जादं। ताहेबइर साभी विज्जाये आहडं पिण्डंतादिवसं आणेति। इत्यादि लिखा है। इस वज्र स्वामी से समन्तभद्र जिनको कि आप समन्तभद्र और द्वितीय भद्रवाहु बता कर श्री कुन्दकुन्दाचार्य के गुरु साबित करना चाहते हैं, तीन पीढ़ी बाद में पड़ते हैं। वीरनिर्वाण ६०९ में वोटिक मत की स्थापना करने वाल आर्य शिवभूति के उत्तराधिकारी श्री भद्र या समन्तभद्रका ४८४ में स्वर्ग जाने वाले वज्र स्वामी के समय में होने वाले दुर्भिक्ष के साथ सम्पर्क जी को नहीं भाता। वस्तुत: दिगम्बरों के समन्तभद्र और श्वेताम्वरों के सामन्तभद्र से भिन्न श्रीभद्र नाम के आचार्य कोई और तीसरे ही हो सकते हैं।

किञ्च समन्त भद्र के साथ में तो दुर्भिक्षु का सम्बन्ध किसी भी शिलालेख या पट्टावली एवं कथानकों से भी समर्थित नहीं होता। जैसा कि भद्रवाहु के समय में। श्वेताम्बर सम्मत शिवभूति सामन्त भद्र के पूर्वज हैं किन्तु स्वामी समन्तभद्र के लिये तो दिगम्बर शास्त्र एक स्वर से पुकारते हैं कि वे शिवकोटिराजा के द्वारा निर्मापित बनारस के शिव मन्दिर में रहे। और शिव पिण्डी का भेदन कर चन्द्रभविम्ब उद्घाटित किया जिस से प्रभावित होकर राजा उनका शिष्य हुवा। बनारस के एक शिव मन्दिर में आज भी वह शिव पिण्डी मौजूद है जिसे खण्ड महादेव कहा जाता है और वहां के पुजारियों में आज भी यह बात प्रसिद्ध है कि एक परम हंस साधु के नमस्कार करते ही ये फट गये थे इत्यादि।

निर्युक्तिकार भद्रवाहु और समन्तभद्र की मान्यताओं में भी बड़ा

अन्तर है। निर्युक्तिकार सर्वज्ञ के भी ज्ञानदर्शनोपयोग को एक साथ न मानकर क्रमशः मानते हैं किन्तु समन्तभद्र एक साथ।

निर्युक्तिकार औरो की तो बात ही क्या किन्तु चौबीसों तीर्थंकरों को भी एक दूष्यवस्त्र से ही दीक्षित हुए मानते हैं किन्तु समन्तभद्र हरेक के लिये ही यथाजातवेशका निरूपण करते हैं। इत्यादि और भी बहुत सी मान्यतायें इनकी भिन्न-भिन्न हैं जिनका कि लेख बढ़ जाने के भय से उल्लेख नहीं किया जारहा है।

आश्चर्य तो यह कि यथा जात दिगम्बर वेष को अपनी संहिता में भ्रष्टलिङ्ग बता कर उसका सर्वथा निषेध करने वाले भद्रवाहु को द्वादशाङ्ग ज्ञाता बताकर समन्त भद्र एवं कुन्दकुन्द के गुरु कहा जाय।

किञ्चतत्वार्थसूत्रकार उमास्वामी तो समन्त भद्र से पहले हो गये हैं यह भी निर्णीत है किन्तु आप के विचारानुसार बाद में पड़ते हैं क्योंकि आप कुन्दकुन्द को समन्त भ्रद का शिष्य बतलाकर उनके समय में उमास्वामी को उनसे मुकाबला लेने वाले लिख रहे हैं। साथ में आपतत्वार्थ सूत्रकार उमास्वामी और उसके भाष्यकार उमास्वातिको एक मान रहे हैं। जिनमें कि श्वेताम्बरों की मान्यता या पट्टावलियों से ही बहुत अन्तर है। उमास्वामी वीरनिर्वाण ३०० में हुए है तो उमास्वाति ११९० में। उमास्वामी समन्त भद्र से पहले करीब २५० वर्ष पूर्व हो गये हैं तो उमास्वाति उन से ६०० वर्ष बाद में।

रही शिवभूतिकी बात सो जिस शिवभूति का वर्णन स्वामी कुन्दकुन्द ने अपने भाव पाहड में किया है वे शिवभूति श्वेताम्बर सम्मत आर्यशिवभूति से और दिगम्बर सन्तशिवार्य या शिवकोटि से बहुत पुराने हैं क्योंकि उन्होंने उसी भव से केवल ज्ञान प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त की है—

तुसमासंधोसंतो भावविसुद्धो महाणु भावोय।

णामेणयसिवभूई केवलणाणी फुटंजावो ॥५३॥
भाव पाहुड

इस विषय में दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि एक शिव भूति नाम के मनुष्य को उनके गुरु ने मुनि तो बना लिया मगर पढ़ाने लगे तो बिलकुल कुछ भी नहीं आता था। गुरु निराश हो रहे। फिर एक दिन बिहार करते-करते रास्ते में दाल धोने वाली को देख कर पूछा या देखा तो उन्हें अनुभव हुआ कि जिस प्रकार तुष से माष भिन्न है उसी प्रकार शरीर से आत्मा भी भिन्न है। मुनि तो थे ही ध्यान लगा दिया और क्षपक श्रेणी मांडकर केवली होगये यह निर्विवाद है। इनके केवलज्ञानी होने का वर्णन तो धवला में भी आया है। वहां पर धवलाकार ने उन्हें बीज बुद्धि के धारक स्वीकार किया है एवं मोक्षगामी सूचित किया है। एवं जो बीज बुद्धि होते हैं वे एक ही पद के आधार पर सकल श्रुत के पारगामी होकर मोक्ष जाते हैं ऐसा श्री त्रिलोक प्रज्ञप्ति ६-९७६ में लिखा है। अत: ये भिन्न हैं और श्वेताम्बर सम्मत शिवभूति भिन्न। केवल नाम साम्य से एक मान लेना तो बुद्धिमत्ता नहीं बल्कि एक ही समय में एक नाम के अनेक व्यक्ति होते हैं। वर्तमान में भी शान्तिसागर नाम के दिगम्बर मुनि ही कई हैं।

इसी प्रकार जिन शिवकुमार का वर्णन श्री कुंद-कुंदाचार्य ने किया है वह भी आर्यशिवभूति एवं शिवार्य तथा समन्त भद्र के शिष्य शिव कोटी से भी भिन्न है।

पञ्चास्तिकाय के टीकाकार जयसेन लिखते हैं कि श्री कुंद कुंद स्वामी ने इस ग्रन्थ को शिवकुमार के सम्बोधन के लिये लिखा था। दक्षिण के पल्लव वंश में एक शिवस्कन्द्र राजा हो गया है। स्कन्द्र स्वामी कार्तिकेय को कहते हैं जिनकी शिव कुमार नाम से भी प्रख्याति है अत: शिवस्कन्द्र को शिवकुमार भी कहा जा सकता है। शिवस्कन्द्र विद्वानों

को आश्रय देने वाला था कोंजीपुर राजधानी थी। इनका एक दानपत्र भी मिला है वह प्राकृतभाषा में है। इस के आरम्भ में सिद्धं लिखा है जिस से प्रतीत होता है कि राजा जैन थे और उनकी राज्य भाषा भी प्राकृत थी। खैर कुछ भी हो परन्तु कुंद कुंदोल्लिखित शिवकुमार श्वेताम्बरो के आर्य शिवभूति से बहुत पुराने हैं। मेरी समझ से तो यह वही शिवकुमार होने चाहियें जिनका कि वर्णन उत्तरपुराण में एवं जम्बू स्वामी चरित में आया है—जो अन्तिम केवली श्री जम्बू स्वामी के पूर्व (तीसरे) भव के विदेह क्षेत्र स्थित महा पद्म चक्रवर्ती के पुत्र थे। सागरचन्द्र मुनि से अपने पूर्व भव श्रवण कर विरक्त हो गये थे और मुनि होते-होते पिता के तीव्र अनुरोधवश घर में इस आश्वासन को पाकर रहे थे कि घर में रहकर भी यथोचित तप कर सकते हैं *और ऐसा ही उन्होंने किया था देखो-एवमस्तुकरिष्येऽहं यथातातम-नीषितं ॥२५९॥* कुमारस्तद्दिनेन्न सर्वसँगपराङ्मुखः। ब्रह्मचार्ये कवस्त्रोऽपि मुनि वत्तिष्ठतिगृहे ॥२६०॥ अकामीकाभिनां मध्ये स्थितोवारिज पत्रवत ॥जम्बूचरित्रे॥ एवमेव चोत्तरपुराणे दीव्यस्त्री सन्निधौस्थित्वाकिलाविकृतचेतसातृणायमन्यमानस्ता– स्तपोद्वादश वत्सरान् ॥२०७॥ चरिन्निवनिशातासिधारायां सम्प्रवर्तयन्। संन्यस्य जीवित प्रान्ते कल्पे ब्रह्मेन्द्रनामनि॥ इत्यादि रूप से लिखा है। इसी प्रकार भाव पाहुडकी ५१वीं गाथा में भी उन्हें युवतिजनवेष्टित विशुद्धमति तथा भावश्रमण बतलाया है द्रव्य श्रमण नहीं। एवं परीत संसारी। कुछ संसार जिसका बाकी रहा है दो चार भवलेना शेष है ऐसा बतलाया है देखो—

भावसमणोयधीरो जुवईयणवेढियो विसुद्ध मई
णामेण सिवकुमारो परित्तसंसारवो जादो ॥५२॥

आर्य शिव भूति तो द्रव्य रूप से भी श्रमण थे। युवति जनवेष्ठित रहनेका भी उनके साथ में कोई प्रसङ्ग नहीं बैठता ऐसी हालत में शिवकुमार को शिवार्य कैसे ठहराया जा सकता है।

किञ्च एक बात और ध्यान देने योग्य है कि श्वेताम्बर पट्टावलियां तो एक स्वरसे प्रथम भद्रवाहुको जोकि ७वें नम्बर पर दर्ज हैं और जोकि वीरनिर्वाण सं. १७० में स्वर्गवासी हुये हैं जिनके कि उत्तराधिकारी स्थूल भद्र हुये हैं, निर्युक्तिकार कहती हैं और उन्हीं के समय वराहमिहिर का होना बतलाती हैं भले ही यह बात इतिहास से सिद्ध न हो देखो—

यशोभद्रःसूरिस्तऽनु समभूद्विश्वविदित
स्ततः सूरिः ख्यातोऽजनि जगतिसम्भूतिविजयः।
तथा भद्राद्वाहूरचितनिर्युक्ति ततिको
वराहामर्त्योत्थं ह्यशिवमहरद्यः स्तवनतः ॥३॥
गुरुपर्वक्रमेयेनैषापिण्डनिर्युक्तियुक्तिरम्याविनिर्मिता।
द्वादशाङ्गविदे-तस्मैनमः श्रीभद्रवाहवे॥

(पिण्डनियुक्ति मलगिरिटीका)

दसकप्पव्ववहाराणिज्जूढाजेणणावमपुव्वावो।
वन्दामिभदवा हुँ तमपच्छिम सयलसुयणार्णी

(ऋषिमण्डल सूत्र)

अपिच श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने सामन्त भद्र को यद्यपि पूर्ण श्रुतज्ञानी नहीं फिर भी पूर्व वेदीमाना है किन्तु दिगम्बरों ने तो समन्त भद्रको, भले ही उनके बाद तक भी एकाङ्गज्ञा न रहा तो भी अंगज्ञानी नहीं कहा है। भला जिन समन्त भद्र की इतनी प्रसिद्धि हो और पूर्वज्ञ होने पर भी उन्हें पूर्वज्ञ न कहा जाय यह नहीं हो सकता। अतः सामन्त भद्र और समन्तभद्र दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

अपिच समन्त भद्र तो श्री कुंद कुन्द से बाद में हुये हैं जैसा कि परम्परा क्रम से भी प्रतीत होता है। परन्तु कुन्द-कुन्दाचार्य अन्तिम

श्रुत केवली प्रथम भद्रबाहु के सक्षात् शिष्य हुये हैं जैसा कि उन्होंने अपनी कलम से लिखा है जिसके कि मानने में कोई बाधा नहीं है। प्रत्युत शिला लेख वग़ैरह से भी उसका समर्थन ही होता है देखो—

श्रीभद्रः सर्वतो योहि भद्रबाहुरितिश्रुतः
श्रुत केवलिनाथेषु चरमः परमोमुनिः ॥१ ॥

चन्द्रप्रकाशोज्वलसान्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्यशिष्य
यस्य प्रभावाद्वन देवताभिराराधितः स्वस्यगणो मुनीनां ॥२ ॥

तस्य न्वये भूविदितेवभूव, यः पद्मनन्द्रिप्रथमाभिधानः।
श्री कुन्द-कुन्दादि मुनीश्वराख्यः सत्संयम दुद्गतचारणर्द्धिः ॥३

इसके प्रथम श्लोक में जो श्री भद्र है वह विशेषण है और भद्रबाहु शब्द विशेष्य हैं। अर्थात् जो भद्रबाहु इस नाम से प्रख्यात हैं और जोकि श्रुत केवलियों में अन्तिम हैं वे परम मुनि सब तरफ भूमण्डल पर श्री भद्र अपनी महिमा के द्वारा कल्याण करने वाले हैं ॥१॥ उन्हीं का शिष्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य हो गया है जिसकी कि कीर्ति चन्द्रमा की चान्दनी के समान निर्मल थी और जिसके कि तपके प्रभाव से वन देवताओं ने उसके मुनि संघ की उपासना की थी ॥२॥ उन्हीं के अन्वय अर्थात् वंश यानी संघ में जिसको कि सारा भू-मण्डल जानता पहिचानता था उसमें कुन्द-कन्द आदि अनेक नामों के धारक और चारणर्द्धियुक्त एक मुनि हुये जिनका कि नाम पद्म नन्दि था ॥३॥ अब इस के प्रथम ही आये हुए तस्य शब्द से जिस प्रकार चन्द्रगुप्त लिये जा सकते हैं उसी प्रकार सीधे भद्रबाहु भी। और अन्वय या वंश में जिस प्रकार पौत्रादि या प्रशिष्यादि होते हैं उसी प्रकार पुत्र और शिष्य भी। अतः हमको शिष्य ही लेना होगा क्योंकि खुद कुन्द कुंद ही ऐसा ही लिख रहे हैं। हां ऐसा हो सकता है कि जिस प्रकार श्रीभद्रबाहु के शिष्य

चन्द्रगुप्त थे उसी प्रकार और भी अनेक, जिनमें कि कुन्द-कुन्द भी एक थे। अब भारत सम्राट होने की वजह से चन्द्रगुप्त उनमें सर्वप्रथम गिने गये हों फिर औरों में प्रभावशाली होने से दूसरा नम्बर कुन्द-कुन्द का हुआ हो। अथवा चन्द्रगुप्त और कुंदकुंद दोनों गुरुभाई होकर भी चन्द्रगुप्त पहले स्वर्ग चले गये हों और उनके बाद में कुन्द-कुंद ने अधिकार पाया हो। अब अगर इसका ऐसा अर्थ न लेकर श्री धद्र को विशेष्य और भद्रबाहु कोउसका विशेषण किया जाय और फिर आर्य शिवभूति के शिष्य भद्र नाम के मुनि को उसका वाच्य कहा जाय जैसा कि मिस्टर हीरालाल जी अन्दाज रहे हैं तो वह ठीक नहीं है क्योंकि प्रथम तो भ्रद मुनि खुद श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी श्रुतकेवली नहीं माने गये हैं जैसा कि इसमें उन्हें बताया गया है। एवं चन्द्रगुप्त भी उनका शिष्य नहीं हो सकता क्योंकि वह इनसे बहुत पहले हो गया है। चन्द्रगुप्त मौर्य सम्राट नन्द काल के अन्त में वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दीके उत्तरार्द्ध में हुआ है अत: उसके गुरु अन्तिम श्रुत केवली प्रथम भद्रवाहु के अतिरिक्त कोई भी नहीं हो सकता। इस बात को भले-भले इतिहासकारों ने स्वीकार किया है देखो मिस्टर वी. लुईसरायस महाशय एप्रिग्राफिका कर्णाटिका में लिखते हैं कि चन्द्रगुप्त नि:सन्देह जैन था और भद्रबाहु स्वामी का समकालीन तथा उनका शिष्य था।

इन्साईक्लोपीडिया आफ रिलीजन में लिखा हुआ है कि सम्राट चन्द्रगुप्त ने वीर सम्वत् २९० से पहले संसार से विरिक्त होकर मैसूर प्रान्त में श्रवण बेलगोला पर जिनदीक्षा से दीक्षित हो कर स्वर्ग गये। एवं स्वामी भद्रबाहु और मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त का गुरु शिष्य सम्बन्ध शिलालेख नं. ४ शिलालेख नं. ६ शिलालेख नं. ७ से भी स्पष्ट है। और जब चन्द्रगुप्त के गुरु प्रथम भद्रबाहु हैं तो वे ही श्री कुन्दकुन्द के भी गुरु होते हैं यह बात शिलालेख नम्बर ५ या नं. १०८ से तो बिलकुल ही स्पष्ट हो जाती है:—

तदन्वये शुद्ध मति प्रतीत समग्रशीला मलरत्न जाले।
अभूद्यतीन्द्रोभुवि भद्रबाहुः पयः पयाधा विवपूर्ण चन्द्रः ॥१॥

भद्रवाहु रग्रिमः समग्रबुद्धि सम्पदाशुद्ध सिद्धाशासनः
सुशुद्ध वन्धसुन्दरः। इद्धवृत्तिरत्र बद्धकर्नमित्तपोद्ध
(ग्रिभिः) ऋद्धिवर्द्धित प्रकीर्तिरुद्धधीर्महद्धिकः ॥२॥

यो भद्रबाहु श्रुतकेवलीनां मुनीश्वराणामिह पश्चिमोऽपि।
अपश्चिमोऽभू द्विदुषां विनोता सर्वश्रुतार्थ प्रतिपादनेन ॥३॥

यदीदुशिष्योऽजनि चन्द्रगुप्तः समग्रशीलानतदेववृद्धः।
विवेशयत्तीव्रतपः प्रभावप्रभूतकीर्तिर्भुवनान्तराणि ॥४॥

तनीवशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यति रत्नमाला।
वभौयदन्तमणिवन्मुनीन्द्रः सकुन्द कुन्दो दितचण्ड दण्डः ॥५॥

अर्थात् श्री महावीर स्वामी की परम्परा में एक भद्रबाहु हुये जो कि सम्पूर्णश्रुतके पारगामी हुये उन्हीं का शिष्य चन्द्रगुप्त हुआ और उन्हीं के प्रसिद्ध वंश यानी संघरूप खानि में से उत्पन्न हुए मुनि रूप रत्नों की निर्दोष माला थी यानी भद्रबाहु स्वामी का जो कुछ जितना भी शुद्ध मुनियों का संघ था। स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य उन्हीं में के एक चमकीले रत्न थे। भद्रबाहु स्वामी के ही शिष्यों में से एक कुन्दकुन्द भी थे ऐसा स्पष्ट है क्योंकि यहां पर यतिरत्न मालाऽभूत ऐसा पद है जिसका अर्थ होता है जो यतिरूप रत्नों की पंक्ति थी तथा यदन्तर्मणिवत् अर्थात् उसी में बहुमूल्यमणि की तरह ऐसा अर्थ होता है। अतः श्री कुन्द कुन्द भी स्वामी भद्रबाहु के साक्षात् शिष्यों में से थे इस में कोई सन्देह नहीं रह जाता। किन्तु अब हमें यह देखना चाहिए कि जब कुन्दकुन्दाचार्य

श्री भद्रबाहु के ही शिष्य थे तो फिर कुन्द कुन्द की भी वही आम्नाय रही क्या जो कि भद्रबाहु की थी या कुछ और हुई। इस बात के लिये पहले हमें यही देखना चाहिए कि भद्रबाहु की क्या आम्नीय थी।

अन्तिम श्रुत केवलिभद्रबाहु की आम्नाय

अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी के उपासकों की वर्तमान में दो प्रसिद्ध आम्नाय हैं एक दिगम्बर और दूसरे श्वेताम्बर। उनमें परस्पर यों तो बहुत सी बातों में मतभेद हैं किन्तु खास भेद यह है कि एक आचेलक्य धर्म को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि इतर सब वस्तुओं को त्यागने के साथ साथ वस्त्रों का भी त्यागना आवश्यक है अन्यथा तो वह पूर्णत्यागी नहीं अत: वह मुक्ति का भी अधिकारी नहीं। परन्तु दूसरी आम्नाय वाले लोग वस्त्र त्याग की जरूरत नहीं समझते। उनकी मान्यता में वस्त्र छोड़े बिना भी मुक्त हो सकता है।

दिगम्बर लोग मानते हैं कि श्री महावीर ने विश्व के कल्याण के लिये आकिञ्चन्य धर्म का उपदेश दिया जैसा कि उनसे पहले के तीर्थंकरों ने अपने अपने समय के लोगों को दिया था। और उसीका प्रचार गोतमादिभद्रबाहु तक महर्षियों ने अविछिन्न रूप से किया।

श्वेताम्बर लोग कहते हैं कि महावीर से पूर्व होने वाले श्री पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अवहिस्था दान इस प्रकार चातुर्माय धर्म का उपदेश दिया किन्तु महावीर स्वामी ने अपने समय में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इस प्रकार पञ्चमहाव्रत का व्याख्यान किया जिसको कि गोतम वगैरह महर्षियों ने अपनाया परन्तु भद्रबाहु स्वामी ने कारणवश उसी पार्श्वनाथोक्त चतुर्यामधर्म को स्वीकार किया। एवं उसी का व्याख्यान किया। मतलब यही कि उन्होंने मुनियों के लिए वस्त्र त्याग की कोई खास आवश्यकता नहीं समझी जैसा कि उन्होंने निर्युक्तियों में बतलाया है इत्यादि। किन्तु जब विचार किया जाता है तो उन श्वेताम्बर

भाइयों के इस विश्वास का कारण सिवा साम्प्रदायिक बाद के और कोई नहीं दीखता क्योंकि ये निर्युक्तियां जिन शास्त्रों पर लिखी गई हैं वे खुद आचाराङ्गादि शास्त्र ही भद्रबाहु श्रुत केवली के बहुत काल बाद में देवर्द्धिगणी क्षमा भ्रमण के द्वारा रचे हुये हैं।

स्वर्गीय श्वेताम्बर मुनि विद्वान् श्री चतुर विजयजीने यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु विक्रम की छठी शताब्दी में हुये हैं जो कि जाति के ब्राह्मण थे प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर इनका भाई था। निर्युक्तियां एवं ऐसी ही और भी कृतियां उन्हीं के बुद्धि वैभव से उत्पन्न हुई हैं।

वराहमिहिर ईसा सन् ५०५ से ५८१ में हो गया है। अत: निर्युक्तियां भी रचने वाला तभी हुआ। रही चातुर्याम धर्म की बात और पञ्चमहाव्रत धर्म की। सो इन दोनों में ॅिवा शब्द भेद के अर्थ भेद नहीं है क्योंकि चातुर्याम धर्म के अवहि-स्थादान का मतलब होता है कि अपने आप के सिवा इतर सभी बाहरी चीजों का त्याग कर देना एवं धन-मकान-जेवर भाई-बन्धु-मित्र, वस्त्र वगैरह जिस प्रकार बाहरी चीजें हैं उसी प्रकार स्त्री भी अत: उसका भी त्याग देना अबहिस्थादान में आ गया है जिसको कि पञ्चमहाव्रतों में भिन्न गिना कर उसी अवहिस्थादान को स्त्री त्याग और शेष वस्तुवों का त्याग इन दो भेदों में बांट दिया गया है। यह तो कहने वाले का कहने का अपना अपना ढंग है न कि भिन्न मार्ग है। जैसे यों तो एक जगह आचारांग सूत्र में महाव्रतों के तीन ही भेद किये हैं। देखो—

जामातिण्णि उदाहया जेसु इमे आरिया सम्बुज्झमाणा समुट्ठिया।   अध्याय ९ सूत्र (पत्र १७०)

अर्थात् भगवान ने महाव्रत के तीन भेद किये हैं—अहिंसा, सत्य और निर्ममत्व। इनमें आर्य लोग समझ सोचकर सावधान होते हैं।

अब इस कथन का यह अर्थ नहीं लिया जा सकता कि आचाराङ्ग सूत्रकार की कोई तीसरी ही आम्नाय है। श्री पार्श्वनाथ की चातुर्याम धर्माम्नाय एवं श्री महावीर की पञ्चमहाव्रत धर्माम्नाय से निराली तीन ही महाव्रत रूप सम्प्रदाय है। अपितु यही कहना होगा कि इन्होंने अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन तीनों महाव्रतों को एक निर्ममत्व में ही ले लिया है। इसी प्रकार श्री पार्श्वनाथ स्वामी ने अवहिस्थादान में ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को गर्भित कर चतुर्याम धर्म का उपदेश किया था।

हां इस पर एक शंङ्का जरूर रह जाती है कि जब श्री पार्श्वनाथ के शिष्य गणधर केशि ऋषि की श्री महावीर स्वामी के गणधरगोतम स्वामी से भेंट हुई है तो उन्होंने गोतम स्वामी से पूछा है कि श्री महावीर ने आचेलक्य धर्म का उपदेश किया परन्तु श्रीपार्श्वनाथ स्वामी ने तो सचेल अवस्था में ही धर्म बतलाया है। इस विषय में आपकी क्या राय है यह भेद क्यों? जैसा कि इस गाथा में है—

अचेलगोय जोधम्मो जो इमो सन्त रुत्तरो
देसियो बद्धमाणेण पासेण य महामुणी॥२९॥

इससे बिलकुल स्पष्ट है कि पार्श्वनाथ की मान्यता महावीर स्वामी से निराली ही थी।

इस पर सब से प्रथम हमें यही देख लेना चाहिये कि केशी ऋषि कौन थे! क्या वे वास्तव में पार्श्वनाथ के गणधर थे? नहीं ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि श्री महावीर स्वामी का जन्म श्री पार्श्वनाथ स्वामी के निर्वाण सम्वत् २५० के बाद हुआ यह सर्वसम्मत बात है। उसमें महावीर स्वामी के केवल ज्ञानोत्पत्ति के वर्ष ४२ मिलाने से २९२ उसके बाद में अधिक भी नहीं तो दो चार वर्ष बाद में गोतम स्वामी से कोशी ऋषि की भेंट हुई। इस प्रकार कम से कम तीन सो वर्ष का अन्तर हो जाता है। जो कि उस समय के मनुष्यों की आयु से

बहुत अधिक है। एवं गणधर जो होते हैं वे साक्षात् तीर्थ करके शिष्य हुवा करते हैं किन्तु पट्टावली के अन्दर केशीऋषि का नम्बर पार्श्वनाथ से चौथा या पांचवां माना गया है—

श्री पार्श्वनाथ १ श्री शुभदत्त २ श्री हरिदत्त ३ श्रा आर्यदत्त ४ और केशी ऋषि ५ इस प्रकार। हां ऐसा हो सकता है कि पार्श्वनाथ के शिष्य प्रशिष्यों में से केशी भी कोई एक हों जिन के कि विचार पार्श्वनाथ की मान्यता के विपरीत हो चेले हों अतः वस्त्रधारण कर रक्खे हों और उन अपने विचारों पर पार्श्वनाथ की बनावटी मुहर मार कर गोतम स्वामी से पास करवाना चाहा हो। बुद्धि कीर्ति मुनि भी तो श्री पार्श्वनाथ के ही शिष्यों में से थे जो कि उपकेश गच्छीय पट्टावली में ही केशी के आगे के नम्बर पर उल्लिखित स्वयम्प्रभसूरि के शिष्य माने गये हैं और जिन्होंने पार्श्वनाथ की आम्नाय के विरुद्ध अपना जुदा मत स्थापन किया जिसका कि नाम बौद्ध मत हुवा।

पार्श्वनाथ स्वामी के बाद और महावीर स्वामी से पहले बीच के काल में ऐसे कई सम्प्रदाय प्रचलित हो चुके थे जो सवस्त्र साधु वादी थे एवं कई सम्प्रदाय ऐसे भी थे जिनके साधुनग्न ही होते थे फिर भी उनके आचार विचार पार्श्वनाथ की मान्यता से भिन्न हो रहे थे उनमें जीवक या आजीवक सम्प्रदाय तो बहुत ही प्रसिद्ध है इसी प्रकार सवस्त्र को साधु मानने वाले सम्प्रदाय भी हो गये थे जिन नाना सम्प्रदायों का प्रतिवाद स्वामी महावीर को करना पड़ा था। किन्तु श्री पार्श्वनाथ की मान्यता श्री महावीर से अभिन्न यथाजात को ही साधु मानने वाली थी इस बात को उनके द्वारा प्रतिपादित चातुर्याम धर्म का चोथा अंश अबहिस्थादान ही बता रहा है अबहिस्थादान में साधु को अपने सिवा बाहर की और सब चीज़ों को छोड़ना पड़ता है उसी प्रकार वस्त्र भी बाहर की चीज़ हैं अतः उसका भी त्यागना साधु के लिये जरूरी हो जाता है यही मान्यता महावीर स्वामी की और उनके बाद में श्री

गोतम से लेकर श्री भद्रवाहु तक के जैन ऋषियों की अखण्ड रूप से बनी रही उस के अन्दर कोई अन्तर भेद नहीं हुवा।

जैनों में सम्प्रदाय भेद का कारण

हमें प्राचीन कथायें असन्दिग्ध रूप में इस बात को बताती हैं कि श्री भद्रवाहु श्रुतकेवली के समय में मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के काल में एक बारह वर्ष का महादुर्भिक्षकाल पड़ा था जिसकी वजह से मुनि धर्म का निर्वाह न होता देख कर स्वामी जी ने अपने संघ को साथ में लेकर दक्षिण को प्रस्थान कर दिया। सम्राट चन्द्रगुप्त भी इस भयङ्कर परिस्थिति को सोचकर गृहस्थ वास से उदास होकर इन्हीं भद्रबाहु के पास मुनि होकर उनके साथ हो लिया। प्रस्थान के समय यहां की प्रजा के अनुनयविनय से जो कुछ मुनि यहां रह गये थे वे प्रयत्न करने पर भी दुर्भिक्ष के आतङ्क से न बच सके। परिस्थिति के वश हो आपत्काले मर्यादा नास्ति इस उक्ति का आश्रय लेकर अपने सनातन के आचरण को ढीला करते हुए उन्हें वस्त्र पात्र और लाठी वगैरह उपकरण अपनाने पड़े।

इस घटना का वर्णन श्वेताम्बर सम्प्रदाय सम्मत श्री कल्पसूत्र ग्रन्थ में भी, अन्यत्र द्वादश वर्ष दुर्भिक्षप्रान्ते संधाग्रहेण श्री भद्रवाहुभिः साधु पञ्चशत्या प्रत्यहं वाचना सप्तकेन इत्यादि रूप में मिलता है एवं इसका समर्थन निम्नलिखित शिलालेख से भी होता है—

श्री गोतमगणधर साक्षात् शिष्यलोहार्य जम्बू विष्णु देवापराजित गोवर्द्धन भद्रवाहु विशाख प्रोष्ठिल कृतकार्यं जयनाम सिद्धार्थ धृतिषेण बुद्धिलादि गुरुपरम्परीण क्रमागत महापुरुष सन्तति समुद्योतितान्वय भद्रवाहु स्वामिना, उज्जयिन्या मष्टांङ्ग महानिमित्त तत्वज्ञेन त्रैलोक्यदर्शिना निमित्तेन द्वादश सम्वत्सर कालवैषम्यमुपलभ्यकथिते सर्वसंघ उत्तरपथाद्दक्षिण पथं प्रस्थित इत्यादि। हां इस लेख में भद्रवाहु शब्द दो बार आया है अतः यह घटना तो द्वितीय भद्रवाहु के समय हुई ऐसी शंका होती है परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय

के द्वितीय भद्रवाहु जिनका कि दूसरा नाम यशोवाहु भी था, वीर निर्वाण ५०० पर हुये हैं जो न तो निमित्तज्ञानी माने गये हैं और न उनके समय दुष्काल ही था क्योंकि दूसरा दुर्भिक्ष जिसका कि वर्णन श्वेताम्बरों के आचार्य ब्रजस्वामी के पास में मिलता है वह इनके बाद में पड़ा था।

श्वेताम्बरों के द्वितीय भद्रबाहु जो कि निमित्तज्ञानी माने जाते हैं विक्रम की छटी शताब्दी में हुये हैं जिनके समय में ऐसा कोई भी दुष्काल नहीं हुआ और दुष्काल का सम्बन्ध खैंच-तान कर बैठा भी लिया जाय तो भी चन्द्रगुप्त मौर्य का सम्बन्ध नहीं बैठ सकता जो कि होना चाहिए अतः इसका अर्थ ऐसा लेना होगा कि श्री गोतम स्वामी १ लोहाचार्य २ जम्बू ३ विष्णु ४ देव ५ अपराजित ६ गोवर्धक ७ भद्रवाहु ८ विशाख ९ प्रोष्ठिल १० कृतकार्य ११ जय १२ सिद्धार्थ १३ धृतिसेन १४ और बुद्धिल वगैरह गुरुओं का जो यह परम्परा क्रम है उसमें आगत अर्थात् आगये हुये एवं महा पुरुषों की सन्तान से अपने अन्वय याने संघ को बढ़ाने वाले भद्रबाहु के कहने से संघ दक्षिण की तरफ को चला गया।

मतलब यह कि जब भद्रबाहु श्रुत केवली अपने संघ सहित पर्यटन करते हुए उज्जयनी में आकर उसके बाहिर उद्यान में विराजे तो उसी दिन मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त को रात्रि के अन्त समय में १६ स्वप्न आये जिस राजा की राजधानी पाटलीपुत्र थी किन्तु किसी कार्य वश वे भी उज्जयनी में आ रहे होंगे। महाराजा चन्द्रगुप्त ने स्वामी के पास जाकर स्वप्नों का फल पूछा तो सभी स्वप्नों का फल अशुभ था और अन्त में बारह फण वाले नाग को देखने का फल तो बारह वर्ष का भयङ्कर दुष्काल था। फिर उसी दिन स्वामी जी जब चर्या को गये तो एक अबोध बालक जो पालने पर, लेटा हुआ था जा चला जा चला जा इस प्रकार बोल पड़ा। इस निमित्त को पाकर स्वामी जी ने अब संघ की उत्तर प्रान्त में कुशल न समझ कर संघ सहित दक्षिण

को चले गये राजा भी इनका शिष्य मुनि होकर इनके संघ में हो लिया। जैसा कि जैनमित्र के भद्रपद कृष्णा द्वितीया वीर निर्वाण सं. २४३५ या २०वें वर्ष के १९-२० अङ्क पृष्ठ १०वें पर मिस्टर बी. लेविस राइस सी.आई.ई. के लेख सारांश से भी स्पष्ट होता है—

समय के फेर से दिगम्बर जैनियों में से एक विभाग उठ खड़ा हुआ जो इस प्रकार के कट्टर साधुपन से विरुद्ध पड़ा। इस विभाग ने अपना श्वेताम्बर नाम रक्खा। यह बात सत्य मालूम होती है कि अत्यन्त शिथिल श्वेताम्बरियों से कट्टर दिगम्बरी पहले के हैं।

भद्रबाहु वचः श्रुत्वा चन्द्रगुप्तो नरेश्वरः।
अस्यैव योगिनः पार्श्वेदधौजैनेश्वरंतपः॥

चन्द्रगुप्त मुनिः शीघ्रं प्रथमोदशपूर्विणां।
सर्वसंघाधिपो जातो विशाखाचार्यसंज्ञकः॥

अनेकैः सह संघोऽपिसमस्तो गुरुवाक्यतः।
दक्षिणापथदेशस्य पुन्नाट नगरं ययौ॥६०॥

(हरिषेण कथाकोश)

मउधरेसु चरिमोजिणदिक्खं धरिय चन्द्रगुत्तोय

(त्रिलोक प्रज्ञप्तिः)

नन्द राजाओं के पश्चात् मगध का राजछत्र चन्द्रगुप्त नाम के एक क्षत्रिय राजपुत्र के हाथ लगा था। उसने अपने भुजविक्रम से प्रायः सारे भारत पर अधिकार कर लिया था और मौर्य नामक राजवंश की स्थापना की थी। जैन शास्त्र इस राजा को दिगम्बर मुनि श्रमणपति श्रुत केवली भद्रबाहु का शिष्य प्रगट करते हैं। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के लेखानुसार भी चन्द्रगुप्त ने अपने वृद्ध राज्य में दिगम्बर मुनियों को बिहार एवं

धर्म प्रचार करने की सुविधा दी थी। श्रवणपति भद्रबाहु की वह राजा बहुत विनय करता था। भद्रबाहु जी बंगाल देश के निवासी थे। एक दफा वहां श्रुत केवली गोवर्द्धन स्वामी अन्य अनेक दिगम्बर मुनियों सहित आ निकले भद्रबाहु उन्हीं के निकट दीक्षित होकर दिगम्बर मुनि हो गये। गोवर्द्धन स्वामी ने भी संघ सहित गिरनार की यात्रा का उद्योग किया। भद्रबाहु ने भी संघ सहित विहार किया था और वे उज्जयिनी पहुंचे थे वहीं से उन्होंने दक्षिण देश की ओर संघसहित विहार किया था क्योंकि उन्हें मालूम हो गया था कि उत्तरा पथ में एक द्वादश वर्षीय विकराल दुष्काल पड़ने वाला है जिसमें मुनिचर्या का पालन दुष्कर होगा।

सम्राट चन्द्रगुप्त ने भी अपने पुत्र को राज्य देकर भद्रबाहु के निकट दिगम्बर दीक्षा धारण की थी। और अन्य मुनियों के साथ दक्षिण को चले गये थे। श्रवण बेलगोला काकटवप्रपर्वत उन्हीं के नाम पर चन्द्रगिरी प्रसिद्ध हुवा क्योंकि उन्होंने वहां पर तपस्या कर समाधि धारण की थी। अस्तु। हां तो अब प्रकृत पर आ जाना चाहिये—

भद्रबाहु स्वामी तो दुष्काल समाप्ति के पूर्व ही स्वर्ग चले गये थे। अत: उनका शेष बचा हुवा.संघ दुष्काल समाप्त हो जाने पर पर्यटन करते-करते जब वापिस यहां पर आया और यहां पर रहने वाले साधु संघ को किसी और ही शकल में पाया तो बड़ा आश्चर्य में पड़ा। परस्पर संघर्ष हुवा। फिर भी अपने बनावटी वेश में जो आराम मान चुके थे, वैसा करना ही जिनका स्वभाव सा हो गया था वे लोग फलप्रद किन्तु कठोर ऐसी पूर्व तपस्या को-अब वापिस क्योंकर अपना सकते थे। इस प्रकार जैन साधुवों का एक संघ अब दो रूप में विभक्त हो गया। कुछ दिन तक यह संघ भेद की व्यवस्था गोलमोल रूप से चलती रही किन्तु थोड़े ही दिनों बाद दोनों साधु संघों ने अपना भिन्न-भिन्न नामकरण कर लिया। जो साधु प्राचीन आचार विचार पर दृढ़ रहकर निर्ग्रन्थ नग्न वेश को स्वीकार किये हुये रहे वे दिगम्बर (दिशारूप वस्त्रों

वाले) कहलाये। और नवीन विकृत रूप में आये हुये-साधुवों का श्वेत वस्त्रधारी होने से श्वेताम्बर नाम पड़ा। दोनों साधुओं के अनुयायी श्रावक भी अपने पूज्य साधुवों के अनुसार दो भागों में विभक्त हो गये। इस प्रकार एक अखन्ड जैन संघ के दो खण्ड हो गये।

इन्डियन एन्टीक्वेरी (जुलाई १९००) पुस्तक नं. ३० में अलब्रेट बबर द्वारा लिखित भारत में धार्मिक इतिहास नामक लेख में लिखा है कि--दिगम्बर लोग बहुत प्राचीन मालूम होते हैं। क्योंकि न केवल ऋग्वेद संहिता में वर्णन मुनयो वातरसना अर्थात् पवन ही है वस्त्र जिन का इस तरह आया है किन्तु सिकन्दर के समय में जो हिन्दुस्तान के जैन सूफियों का प्रसिद्ध इतिहास है उसमें भी यही प्रगट होता है।

रेवेजे. ष्टेवेन्स डी डी प्रेसीडेन्ट रायल एसियाटिक सोसाइटी ने ता. २ अक्टूबर सन् १८५३ में छपाया है। इस लेख में बौद्धों के ग्रन्थ में आये हुये तित्थय (तीर्थंकर) शब्द का तथा यूनानी ग्रन्थों में आये हुये जैन सूफी शब्द का अर्थ क्या है इस बात का विवेचन करते हुए एक स्थान पर लिखते हैं कि वे तीर्थंकर जैन सूफी ही थे। आपने लिखा है कि इन तीर्थंकरों में दो बड़ी विशेषतायें पाई जाती हैं तथा जैनियों के सब से प्राचीन ग्रन्थों से और प्राचीन इतिहास से ठीक ठीक मिलती हैं। वे ये हैं एक तो उनमें दिगम्बर मुनियों का होना। दूसरे पशु मांस का सर्वथा निषेध। इन दोनों में से कोई बात भी प्राचीन काल के ब्राह्मण और बौद्धों में नहीं पाई जाती है। इन्साईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका जिल्द २२ ग्यारहवीं वार (सन् १९११) में प्रकाशित हुई पुस्तक में लिखा है कि—जैनियों में दो बड़े भेद हैं—एकदिगम्बर तो दूसरे श्वेताम्बर। श्वेताम्बर थोड़े काल से शायद ईसा की ५वीं शताब्दी में प्रगट हुए हैं। दिगम्बर निश्चय से लगभग वे ही निर्ग्रन्थ हैं जिनका कि वर्णन बौद्धों के पालीपिटकों में आया है। इस कारण ये लोग ईसा से ६०० वर्ष पहले के तो होना ही चाहिये।

यद्यपि विक्रम सम्वत १३० के आस पास में श्वेताम्बर लोग प्राचीन दिगम्बर लोगों में से छंटकर आचार विचार में स्पष्ट रूप में उनसे पृथक हो गये परन्तु अर्हन्त प्रतिमाओं का निर्माण विक्रम सम्वत ९०० तक नग्न वीतराग रूप में ही होता रहा।

प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान पं. वेचर दास जी लिखित जैन साहित्य में विकार नामक पुस्तक के अनुसार किसी एक प्रतिमा के बारे में दिगम्बर और श्वेताम्बर संघ का परस्पर बहुत विवाद हुवा। उस समय से श्वेताम्बर जैन संघ ने अपनी प्रतिमाओं पर लंगोट का चिन्ह लगाना प्रारम्भ कर दिया। शेष रूप वीतराग रूप में ही रहा। मुकुट कुण्डल अंगिया आदि वस्त्राभूषणों द्वारा अर्हन्त प्रतिमाओं को सजाने की पद्धति तो श्वेताम्बरों के यहां भी बहुत ही पीछे प्रचलित हुई।

श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थों का निर्माण वीर सम्मत ९८० में प्रारम्भ हुआ जैसा कि कल्प सूत्र के १४८वें सूत्र में १२६वें पृष्ट पर लिखा है।

वल्लमिपुरम्भि णयरे देवड्ढि पमुहसयल संघेहिं
पुन्थे आगम लिहिवो णवसय असियावो जीरावो॥

अर्थात् वल्लभिपुर में देवर्द्धिगणि क्षमा भ्रमण आदि समस्त साधु संघ ने वीर सम्मत ९८० में आगमों को पुस्तक रूप में लिखा है।

ज्ञाता धर्म कथा में भी ऐसा ही लिखा है—

श्रीदेवर्द्धिक्षमाश्रमणेन श्री वीरात् अशीत्यधिक नवशत वर्षे जाते द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष व शात् वहतर साधु व्यापत्तौ वहुश्रुत विच्छित्तौ च जातायां..................भव्य लोकोपकाराय श्रुत भक्तये च श्री संघाग्रहात् मृतावशिष्टतदाकालीन सर्वसाधून् बल्लभ्या माहूय।

तन्मुखात् विच्छिन्ना वशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान्

आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या संकलय्य पुस्तका रूढ़ाः कृता स्ततो मूलतो गणधर भाषितानाम पितत्संकलनानन्तरं सर्वेषामपि आगमानां कर्ता देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण एव जातः

इस में स्पष्ट लिखा है कि वीर निर्वाण ९८० में श्वेताम्बर आगम ग्रंथ लिखे गये हैं और वे न्यूनाधिक रूप में लिखे गये हैं इससे सिद्ध होता है कि श्वेताम्बर आगम ग्रंथ प्रमाणभूत नहीं है क्योंकि न्यूनाधिकान् त्रुटिता त्रुटितान् आगमालापकान् स्वमत्या संकलय्य पुस्तका रूढ़ाः कृताः ऐसा लिखा हुवा है। अतः विकार रूप हैं। एवं बेचारदास जी ने भी अपनी जैन साहित्य में विकार नाम की पुस्तक में लिखा है कि श्वेताम्बरों के सब सूत्र विकार युक्त हैं तथा यह भी लिखा है कि कुंद-कुंदाचार्य से बाद के लिखे हुये हैं।

तथा श्वेताम्बराचार्य श्री अभयदेव सूरि ने भी, अज्ञावयं शास्त्रभिदं गम्भीरं प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि अर्थात् जिन सूत्रों को पुस्तकारूढ किया गया वे प्राय कूट अर्थात् बनावटी हैं ऐसा लिखा है।

मतलब यह कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के देव, शास्त्र और गुरु तीनों के रूप, इतिहास से भी और खुद श्वेताम्बरों के आगम से भी दिगम्बरों से बहुत ही पीछे के बने हुये और विकार रूप हैं। अस्तु।

द्वादशवर्षीय दुष्काल की थपेड़ से व्याकुल होकर शिथिलाचारी. होते हुये कुछ जैन साधुओं ने स्पष्ट रूप में श्वेताम्बर नाम से अपना जुदा सम्प्रदाय कायम कर लिया जिसके कि अगुवा स्थूल भद्र नाम के आचार्य हुए तब इधर प्राचीन सनातन साधु आचार विचार को कट्टरता, से अपनाये हुए रहने वाले मुनियों का नेतृत्व स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य को प्राप्त हुवा ताकि वे अपने संघ में किसी भी प्रकार से शिथिलता की गन्ध भी न आने दें। और स्वामी कुन्दकुन्द उस अपने संघ की तत्परता के साथ देख रेख करने लगे क्योंकि वे जानते थे कि मनुष्य जिस

अधिकार को प्राप्त करे उसे पूर्ण रूप से सम्भाले। अन्यथा तो फिर लाभ के बदले हानि उठानी पड़ती है (और इसके लिये सब से अच्छा उपाय उन्हें यह जचा कि जनता की बोल चाल की भाषा में सरल और सुबोध साहित्य का निर्माण किया जाय परन्तु इसके साथ ही साथ उन्हें इस बात का भी ध्यान आया कि कहीं उसमें उत्सूत्रता-प्राचीन मार्ग से जरासा भी विपरीत पना न आजावे बस इसी विचार में मग्न होकर उन्होंने एकाएक भक्ति में ओतप्रोत होकर श्री सीमन्धर स्वामी को स्मरण कर नमस्कार किया जिसको पाकर उनकी दिव्य ध्वनि में इनके लिये धर्म वृद्धि हुई। इस प्रसङ्ग को पाकर वहां से दो चारण मुनि आये और इन्हें वहां लिवा ले गये। ताकि वहां जाकर उन्होंने अपनी सम्पूर्ण शङ्काओं का समाधान किया और फिर चारणर्द्धि के बल से जैसा कि एक शिलालेख में लिखा हुआ है यहां वापिस आकर अनेक ग्रन्थ (प्रसिद्धि के अनुसार ८४) भिन्न-भिन्न विषयों पर बनाये।

कुन्दकुन्द स्वामी तपस्या में तो प्रसिद्धि पाये हुये थे ही किन्तु साक्षात् रूप से श्री सीमन्धर स्वामी से तत्वोपदेश प्राप्त करने के कारण अब और भी समादरणीय बन गये। लोग इन की वाणी को साक्षात् तीर्थंकर भगवान की वाणी सरीखी मानने लगे।

वस्त्रधारी की मुक्ति नहीं

स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने मूलाचार में मुक्ति मार्गी साधू के लिये २८ मूल गुण और चोतीस उत्तर गुणों का उपदेश किया है। २८ मूलगुण जिनका कि होना साधु के लिये अनिवार्य रूप से परमावश्यक है इस प्रकार बतलाये हैं—

पञ्चय महव्वयाइं समिदीवो पञ्च जिणवरुद्दिट्ठा।
पञ्चेविन्दियरोहा छप्पि य आवसया लोचो॥९॥

अच्चेलक्कमणहाणं खिदिसयण मदन्तघंसणंचेव।
ठिदिभोयणेय भत्तं मूलगुणा अट्ठविसादु ॥५॥

अर्थात् पांच महाव्रत, पांच समितियां, पांचों इन्द्रियों को जीतना, छह आवश्यक केशो का लोच करना, वस्त्रविहीन नग्न दिगम्बर रहना, स्नान नहीं करना, जमीन पर सोना, दन्तोन नहीं करना, खड़े-खड़े आहार लेना और उसी जगह दिन में एक बार ही भोजन करना ये साधुवों के अठाईस मूलगण हैं ऐसा जिन भगवान ने बताया है। यहां जिणवरुदिट्ठा इस शब्द को देकर आचार्य महाराज ने यह बताया है कि मैं वही कहता हूँ जैसा कि जिन भगवान ने कहा था। और यह आचार्य महाराज का कहना बिल्कुल सत्य है क्योंकि श्री वीर भगवान के प्रधानशिष्य श्री गोतम स्वामी ने भी अपने प्रतिक्रमण दण्डक में इन्हीं का वर्णन किया है। अट्ठावीसाये आचार कप्पेसु ऐसा स्पष्ट लिखा हुवा है तथा इनसे आगे होने वाले दिगम्बर जैनाचार्यों ने भी इन्हीं अठाईस मूल गुणों का वर्णन ग्रहण किया है।

हां कहा जा सकता है कि तत्वार्थ सूत्रकार ने तो मुनि के लिये सिर्फ पांच महाव्रतों का ही उपदेश किया है किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वह सूत्र ग्रन्थ है अत: उसमें अपरिग्रह महाव्रत में आचेलक्य वगेरह का समावेश कर लिया गया है। देखो कि वहां पर सातवीं अध्याय में जो क्षेत्र वास्तु हिरण्यसुवर्णधन धान्यदासीदास कुप्य भाण्ड प्रभाणातिक्रमा: सूत्र है उसके कुप्य शब्द का वाच्य वस्त्र ही तो है जिस का कि देश व्रती तो प्रमाण कर लेता है किन्तु महाव्रती को क्षेत्र वास्तु वगेरह की तरह उसे (वस्त्र को) भी सर्वथा छोड़ना पड़ता है। अन्यथा तो फिर पञ्चेन्द्रियरोध का भी तो तत्वार्थ सूत्र में कहां लेख है। ऐसी हालत में तत्वार्थ सूत्रकार के मत से [illegible] द्रयता की भी कोई जरूरत नहीं रहेगी जो कि ठीक नहीं अ[illegible] ना होगा कि परिग्रह त्याग

महाव्रत एक ऐसा विशाल व्रत है जिस में प्राय: सभी का समावेश हो जाता है।

सूत्रकार ने मुनियों के पुलाकादि पांच भेद किये हैं वे भी उनके अन्तरङ्ग के कषायावेश को लक्ष्य में लेकर किये गये हैं। बाहिरी नग्न यथा जात रूप में उनमें परस्पर कोई अन्तर नहीं होता जैसा कि राजवार्तिक जी के भग्नव्रतेऽव्रता वति ग्रसङ्ग इति चेन्न रूपाभावात् इस वार्तिक से स्पष्ट हो जाता है। अगर कहा जाय कि यह तो वार्तिककार का मत है मूल सूत्रकार का नहीं क्योंकि सूत्रकार ने ही नवमीं अध्याय में बाईस परीषहों के वर्णन में नग्नपरीषह भी तो लिखी है जिसको कि श्वेताम्बर भाई भी मानते हैं।

बकुश मुनि शरीर संस्कारानुवर्ति होते हैं इसका अभिप्राय भी यह नहीं कि वे वस्त्र धारण करते हैं किन्तु वे अपने नग्न शरीर को साफ सुथरा सुन्दर रखते हैं यही मतलब है। भावलिंङ्ग ग्रतीत्य पञ्चनिर्गन्थलिङ्गि नो भवन्ति द्रव्यलिङ्ग ग्रतीत्यभाज्या इस सर्वार्थ सिद्धि के वाक्य का भी मतलब वस्त्र धारण करना नहीं है। किन्तु तपस्या करते हुए पाण्डवों को उनके गृहस्थाश्रम के शत्रु ने आकर गर्म लोहे के आभूषण पहरा दिये थे तो उनके शरीर पर तो आभूषण लदे होने की वजह से बाहर शरीर में यथाजात पना नहीं है फिर भी उनके अन्तरङ्ग में इस बात का विचार तक नहीं है केवल आत्मसम्वेदन है अत: पूर्ण वीतरागता है निर्गन्थ पना है बस ऐसी परिस्थिति को लक्ष्य में लेकर यह उल्लेख किया गया है। हां इस पर से अगर कोई यह छल ग्रहण कर लेवे कि एक आदमी कपड़ा पहने हुए भी तो ऐसा हो सकता है इस में क्या बाधा है तो ऐसी बात नहीं है क्योंकि कपड़ा धारण किये हुए रहना बिना ममत्व परिणाम के नहीं हो सकता जैसा कि भगवती अराधना में लिखा है—

जहकण्डवोणसक्को सोधेदुं तण्डुलस्स सतुसस्स

अर्थात्—छिलके के सहित तण्डुल यानी धान्य में से कण्डुवा नाम का मल-तन्दुल के ऊपर किन्तु तुष से नीचे में जो ललाई होती है वह तुष को हटाये बिना दूर नहीं हो सकती उसी प्रकार वस्त्रादि बाह्य परिग्रह का त्याग किये बिना निर्मोहपना वीतराग भाव भी नहीं हो सकता। और इसी लिए आचार्य ने बतलाया है कि बिना वस्त्र त्याग के मुनि नहीं हो सकता देखो—

आचेलक्यं लोचो वोसट्ट सरीरदा य पडिलिहणम्।
एसोहु लिङ्ग कप्पो चदु व्विधो होई ओसग्गे॥८०॥

अर्थात् आचे नग्न दिगम्बर पना, केशोका लोच करना, शरीर से भी विरक्त रहना, और जीव जन्तु शोधन करने के लिये पिच्छि का रखना ये चार तो मुनि की खास पहिचान हैं। हां ये आचार्य अपवादलिंङ्ग में वस्त्र (गुह्याच्छादन)का आदेश देते हैं परन्तु अपवाद लिङ्ग तो लाचारी कमजोरी में धारण किया जाता है जिस के लिङ्गादि में कोई दोष हो अत: जो लज्जा के मारे नग्न नहीं रह सकता हो उसे लंगोट लगाकर निर्वाह करने को कहा गया है ऐसा तो कुन्दकुन्द भी कहते हैं—

एकं जिणस्स रूपं वीयं उक्किट्ठ सावयाणन्तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थं लिंङ्गदंसणे णत्थि॥

अर्थात् एक तो जिन भगवान का रूप यथा जात नग्न अवस्था वाला दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का एक लङ्गोट मात्र लिये हुये और तीसरा आर्थिकावों का एक साड़ी मात्र में निर्वाह करना ये तीन ही वेश त्याग मार्ग में हैं इसके सिवा चौथा और कोई भी रूप नहीं है। परन्तु इनमें से महाव्रती मुनि का तो पहला ही रूप होता है जो कि मुक्ति मार्ग में सहकारी होता है। जैसा कि श्री गोतम स्वामी ने अपने प्रति क्रमण दण्डक की अञ्चलिका में लिखा है देखो—

इच्छामि भन्तेइमंणिग्गन्थं पावयणं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं णेगाइयं सामायियं संसुद्धं सल्लघट्टाणं सल्लघत्ताणं सिद्धिमग्गं सेढ़िमग्गं खन्तिमग्गं मुत्तिमग्गं पमत्तिमग्गं मोक्खमग्गं पमोक्खमग्गं णिज्जाण मग्गं णिव्वाणमग्गं सव्वदुक्ख परिहाणमग्गं सुचरिय परिणिव्वाणमग्गं अवितहं अविसन्ति पवयणं उत्तमं तंसद्दहामि तंपन्तियामितं रोचेमितं फासेमि इदो उत्तरं अण्णं णत्थिणभूदं णभविस्सदि इत्यादि।

इसमें श्री गोतमस्वामी बतलाते हैं कि यह निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) मार्ग ही सर्वोत्कृत है यही मोक्ष का मार्ग है यही श्रेणी मार्ग है इत्यादि इस से दूसरा और कोई मार्ग न तो आज तक हुवा न कोई होगा और न अभी ही है। इसलिये मैं इसे मानता हूँ चाहता हूँ और स्वीकार भी करता हूँ।

इसी प्रकार अपरिग्रह महाव्रत के वर्णन में श्री गोतम स्वामी के कहे हुये प्रति क्रमण दण्डक में पहले और परिग्रह बताकर अण्डजं वाबोण्डजं वारोमजं वावक्वजं वा चम्मजं वा अप्प वा वहुं वा अणुं वा सचितं वा अचित्तं वा अमुत्थंवा वहित्थं वा अविवालग्ग कोडिमित्तं पिणे व सयं असमणापाउग्गं गिण्हिज्ज, णो अण्णेहिं असमण पाउग्गं परिग्गहं गेण्हाविज्ज इत्यादि।

अर्थात् अपरिग्रह महाव्रत का धारी श्रमण उपयुर्क्तइतर परिग्रहों की भांति रेशमी वस्त्र सूती वस्त्र ऊन वगैरह रोम का वस्त्र बक्कल वगैरह का बना हुवा वस्त्र चमड़े का वस्त्र कोई भी प्रकार का वस्त्र थोड़ा बहुत भी अणुमात्र भी एक बाल जितना भी सचित्त या अचित्त कैसा भी क्या भीतरी क्या बाहिर फैंकने योग्य कैसा भी हो वह साधुओं के ग्रहण क़रने योग्य नहीं है अत: उसे स्वयं भी न ले तथा और को भी न देवे इस प्रकार लिखा हुआ है। मतलब यही कि वस्त्र धारण करना साधु का मार्ग नहीं इसी लिये अपवादवेश का विधान करने वाले

शिवकोटि आचार्य श्री भी अन्त में उसके लिये भी उत्सर्गलिङ्ग नग्नता का ही आदेश करते हैं—

जस्सवि अव्वभचारी दो सो तिठ्ठाण गोविहारम्मि।
सोविहु संथार गदो गेण्हेज्जो सग्गियं लिङ्गम् ॥७८॥

अर्थात्--जिस के लिङ्ग वगैरह तीन स्थानों पर ऐसा दोष हों जोकि हटाया नहीं जा सके और जिसके कि प्रगट होने से लज्जा मालूम होती हो ताकि वह नग्न रूप में विहार न कर सकता हो "तो वह बाहर में विचरण करने के लिये गुह्याच्छादन वस्त्र लेकर के अपवाद लिङ्ग स्वीकार करे" लेकिन वह भी संस्तर ग्रहण करते समय समाधि मरण के अवसर पर तो उत्सर्ग लिङ्ग को ही धारण करके अर्थात उस अपनी लङ्गोटी को भी त्याग कर नग्न बन जावे। मतलब यही कि अपवाद लिङ्ग का धारक पूर्ण शुद्ध नहीं होता। अपितु वह जब अपने गुर्वादि की साक्षी पूर्वक अपनी निन्दा गर्हा करता हुवा, उसका त्याग कर देता है तभी शुद्ध होता है जैसा कि नीचे लिखी गाथा से बिल्कुल स्पष्ट होता है—

अववादियलिङ्ग कदो विसयासत्तिं अगूहमाणो य।
णिन्दणगरहण जुत्तो सुज्जदि उवधिंपरिहरन्तो॥८७॥

श्वेताम्बरों के मान्य ग्रन्थ बृहत्कल्पसूत्र के अध्ययन पृष्ट २७ में—णोकप्पइणिग्गंथीये अचेलयाए होत ये अर्थात साध्वी को नग्न नहीं होना चाहिये ऐसा लिखा है। इसका भी मतलब यही है कि साधु नग्न ही होता है तभी तो साध्वी के लिये उस का निषेध किया गया है वरना उस की क्या जरूरत थी।

इस प्रकार अगर हम देखें तो दिगम्बर सम्प्रदाय ही नहीं श्वेताम्बर सम्प्रदाय के भी आचारांग आदि शास्त्रों में प्रशस्त साधु के लिए वस्त्र

विहिन रहने का ही आदेश है। देखो आचारांग सूत्र में अदुवा तत्थ परिक्वमन्तं अचेलं तणफासा फुसन्ति दसग फासा फुसन्ति एवायरे अन्नयरे विरूपरूवे फासे अहिमासेति अचेले लाघवियं आगम पमाणे। तवे से अभिसमन्नागये भवइ। जहेतं भगवया पवेदियं तमेव अभिसमेच्चा सव्ववी सव्वत्ताए सम तमेव समभि जाणिया'' अध्याय ८ उद्देशा ७

अर्थात जो मुनिं लज्जा जीत सकता हो तो वह नग्न ही रहे। नग्न रहकर तृण स्पर्श सर्दी गर्मी दंश मच्छर आदि जो भी परीषह प्राप्त हों उन्हें सहन करे। ऐसा करने से ही मुनि को चिन्ता कम रहती है और तप की सिद्धि होती है इसलिए जैसा भगवान् ने कहा है वैसा जानकर जैसे बने वैसे समझता रहे एवं आचारांग सूत्र के छठे अध्याय के तृतीय समुद्देश के ३६० सूत्रमें—

जो अचले परिवुसियेतस्सणं भिक्खुस्स एवं भवइ परिजिण्णे मेवत्थे वत्थे जाइ स्सामि सूइं जाइ स्सामि संधिस्सामि सीविस्सामिवोक्क सिस्सामि परिहरिस्सामि पाडिसिस्समि''

अर्थात—जो साधु नग्न होते हैं उनको यह चिन्ता नहीं रहती कि मेरा कपड़ा फट गया है मुझे नया दूसरा कपड़ा चाहिए कपड़ा सीने के लिये सुई धागा चाहिये तथा उसे यह चिन्ता भी नहीं रहती कि मुझे कपड़ा रखना है अपना फटा हुआ कपड़ा मुझे सीना है जोड़ना है फाड़ना है पहनना है यह मेला कपड़ा धोना है। और देखिये उत्तराध्ययन में लिखा है—

परिचित्तेसु वत्थेसु णपुणो चेलमादिये। अचेलपवरेभिक्कू जिणरूप धरे सदा। सचेलगो सुखी होदि असुखी चावि अचेलगो अहंतो सचेलगो होस्सामि इदि भिक्खूण चिन्तये॥

फिर और देखिये आचाराङ्ग-सूत्र वस्त्र धारक साधु को क्या उपदेश देता है—

अहं पुण एवं जाणेज्जा उव क्कंते खलु हेमन्तेगिण्हे पडिवन्ने अहापरिजिण्णाईं वत्थाइं परिट्ठवेज्जा अदुवा सन्तरुत्तरे अदुवाएगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे। तवेसे अभिसमण्णाग गाये भवति। जहेयं भगवताप वेदियं तमेव अभिजाणिया, अध्याय ८ उद्देशा ५।

अर्थात्—मुनि अगर ऐसा समझे कि अब जाड़ा चला गया गर्मी आ गई तो उसके जो कपड़े पुराने हो गये हों उन्हें रख देवे या समय अनुसार पहने या उसे फाड़कर छोटा कर लेवे यहां तक कि एक ही कपड़ा रखले और विचार रक्खें कि मैं अन्त में उस एक कपड़े को भी छोड़ यानि नग्न होकर निश्चिन्त बनूं ऐसा करने से तप प्राप्त होता है। इस कारण जैसा भगवान् ने कहा है वैसा जैसे बने वैसे पूर्ण तोर पर समझना चाहिये। सारांश इन सब उदाहरणों से प्रगट है कि श्वेताम्बरों के यहां भी साधु का आदर्श मार्ग तो वस्त्र विहीन रहना ही है।

अब जरा हिंदुओं के साहित्य की तरफ भी आजाइये देखिये जावालोपनिषद्-यथा जात रूप धरो निर्ग्रन्थोनिष्परिग्रहस्तत्त-द्व्रह्ममार्गे सम्यक् सम्पन्नःशुद्धमानसः प्राण सन्धारणार्थं यथोक्तकालेविमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदर पात्रेण लाभ-लाभयोः समोभूत्वा श्रन्यागार देवगृह तृणकूट वल्मीक वृक्षमूल कुलाल-शालाग्नि होतृ गृह नदी पुलिन गिरिकुहर कन्दर कोटर निर्जन स्थण्डिलेषु तेष्वनिकेतन वास्य प्रयत्नों निर्मम: शुक्ल ध्यान परायणोऽध्यात्मनिष्ठोऽशुभ कर्म निर्मूलनपरः संन्यासेन देह त्यागं करोतिस परम हंसो नामेति।

इस में परमहंस साधु का स्वरूप हू-ब-हू दिगम्बर सम्प्रदाय सम्मत साधुओं का है। कंथाकोपीनोत्तरासङ्गदीनां त्यागिनो यथा जात रूपधरा निर्ग्रन्था निष्परिग्रहाः, इस प्रकार संवर्त श्रुति में लिखा है।

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः। रूपमुपास दामेयत्
तिस्रो रात्रीः सुराःसुता। यजुर्वेद अध्याय १९ मंत्र १४ ॐनग्नंसुवीरं
दिग्वाससं ब्रह्मगर्भ सनातन मुपैम। यजुर्वेद अ० ९ मं० २५

नग्नं परमाह संस्तुतं वारं शत्रुं जयन्तं पशुरिन्द्रमाहु
रिति स्वाहा यजुर्वेद अ० २५ मं० ९

ॐवृषभं पवित्रं नग्न मुपवि (ई) प्रसामहे। येषां नग्ना
(नग्नये) जातिर्येषां वीराः। येजुर्वेद मध्ये

दत्तात्रेयो महायोगी योगीश श्चामर प्रभुः। मुनिर्दिगम्बरो
वालो मायामुक्तो यदा परः॥ दत्तात्रेयस्तोत्र पा० २४

पद्मिनिराजहंसाश्चनिर्गन्थाश्च तपोधनाः।
यंदेशभुपसर्पन्ति सुभिक्षं तत्रनिर्दिशत्॥

इति भागवते महा पुराण प्रथम स्कन्धे चतुर्थाध्याये।
अश्रीमहिवयं भिक्षा माशावासो वसीमहि।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरः॥
भर्तृहरिकृत वैराग्यशतक पृष्ठ १२१

सर्वात्मनात्मनि स्थाप्यपरमात्मान मीश्वरं।
नग्न जटोनिराहारो चिराध्वान्त मतोहिसः॥

लिंङ्ग पुराण अध्याय ४७-४८ पृष्ठ ६८ श्लोक २२

महाभारत में जब अर्जुन युद्ध करने को रवाना हुये तो उनके

सम्मुख दिगम्बर मुनि आये इस पर श्री कृष्ण ने क्या कहा है कि यह शकुन हे अर्जुन तेरे लिये बहुत अच्छा है—

आरोह स्वरथे पार्थं गांडीव चकरे कुरु।
निजिता मेदिनी मन्ये निर्ग्रन्थो यस्य संम्मुखे॥

इन सब उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि हिंदुओं के यहां भी साधु का सच्चा आदर्श स्वरूप नग्न ही माना गया है जिन्हें परम हंस कहते हैं।

अब विदेश से आये हुये यवन लोगों की ओर भी देख लेना चाहिये—मस्तवी ईरानी कुरान कर्त्तां मौलाना रूम कासीम गिलानी नाम का साधु दिगम्बर ही रहता था। अब्दुल नाम का श्रेष्ठ फकीर भी दिगम्बर ही रहता था। इस्लाम के महान् सूफी तत्ववेत्ता और सुप्रसिद्ध मस्वती नामक ग्रन्थ के रचयिता श्री जलालुद्दीन रूमी दिगम्बरत्व का खुला उपदेश करते हैं—

१. गुफ्त मस्तऐ महतव व गुजार रव अजविहरना के तवां वरदन गरव। जिल्द २ सफा २६२।

२. जामा पोषारा नजर पर गाजरास्त जा मैं अरियांरा तजल्ली जेवर अस्त। जिल्द २ सफा ३८३।

३. याज अरियान वयकसू वोज रवया चूंईशां फारिग व वेजामाशव।

४. वर नमीतानी किकुल अरियां शवी जामा कम कुनता रह औसतरबी। जिल्द २ सफा ३८३।

इनका उर्दू में इल्हामे मञ्जूम नामक पुस्तक में इस प्रकार अनुवाद किया है—

१ मस्त बोला महतव कर काम जा, होगा क्या नंगेसेत् अहदेवर आ।

२. है नजर धोबी पै जामे पोष की है तजल्ली जेवरे अरियातनी।

३. या विरहनो सेहो यकसू वाकई या हो उनकी तरह वे जामे अखी।

४. मुतलकन अरिया जो हो सकता नहीं, कपड़े कम यह है कि औसत केकरी।

सारांश—कोई तार्किक किसी एक मस्त नंगे से जा उलझा। उसने सीधे से तोर पर यों कह दिया कि—जा अपना काम कर तू नंगे के सामने टिक नहीं सकता। वस्त्रधारी को हमेशा धोबी की फिकर लगी रहती है। किन्तु नंगे तन की शौभा दैवी प्रकाश है। बस या तो तू नंगे दुरवेशों से कोई सरोकार न रख अथवा उनकी तरह आजाद और नग्न दिगम्बर हो जा। और अगर तू एक दम सारे कपड़े नहीं उतार सकता तो कम से कम कपड़े पहन और मध्यम मार्ग को स्वीकार कर। क्या ही सुन्दर कहा गया है। यही दिगम्बर सम्प्रदाय का कहना है। इन उद्धरणों से दिगम्बरत्व का इस्लाम से सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। मतलब यही कि संसार की झंझटों से छूटने के लिये त्याग और वैराग्य की जरूरत है। वह तभी हो सकता है जबकि मनुष्य अपने तन के कपड़ों तक को छोड़कर बिलकुल निरीह निर्द्वन्द्ध बने जाय। बस इसी का नाम सच्चा साधु है। इसाई मजहब में भी दिगम्बरत्व के महत्व को बड़े मार्के के शब्दों में गाया है देखिये—बाईबिल में लिखा है—उसने अपने वस्त्र उतार डाले और सेमुयल के समक्ष ऐसी घोषणा की। और उसी दिन सारे दिन तथा सारी रात वह नङ्गा रहा। इसपर उन्होंने कहा कि क्या साल भी पैगम्बरों में से है? सैमुयल १९। २४। उसी समय प्रभुने अमोज के पुत्र ईसायिया से कहा कि जा और अपने वस्त्र उतार डाल। और अपने पैरों में से जूते निकाल डाल। और उसने यही किया। नंगा और नंगे पैरों वह विचरने लगा। ईसाय्या।२०।२

इन उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि बाईबिल भी मुमुक्ष को दिगम्बर मुनि होने का उपदेश देती है। यही वजह है कि इसाई मजहब के मानने वाले भी सैंकड़ों साधु नग्न हो गुजरे हैं। अब आइये बौद्ध साहित्य की तरफ वहां पर भी श्री महावीर को निर्ग्रन्थ तो लिखा ही है साथ में सर्वज्ञ भी बतलाया है—

णिग्गंठो आबुसो नातपुत्तो सव्वग्गु सव्बदरसाबी अपरिसेसंणाणदंसणं परिजानाति। इति मज्झिमनिकाये

बौद्ध शास्त्रों में भगवान महावीर के विहार का भी वर्णन मिलता है। उपाली सूत्र से भगवान महावीर का नालन्दा में विहार हुआ लिखा है। उस समय उनके साथ बहुत बड़ी संख्या में निर्ग्रन्थ साधु थे। बल्कि बौद्ध भिक्षुओं ने नग्नता को धारण करने का आग्रह महात्मा बुद्ध से किया था। इस पर बुद्ध महात्मा ने यद्यपि नग्न वेश को बुरा नहीं बतलाया किन्तु वह कठिन वृत्ति होने से उस से कुछ ज्यादा शिष्य पाने का लाभ न देखकर उसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया। पर फिर भी एक बार नेपाल के तान्त्रिक बौद्धों में नग्न साधुओं का अस्तित्व हो गया। अब इस बात के लिए जरापउमचरिय को और देख जाइये जोकि श्वेताम्बरों का मान्य ग्रंथ है और आचारांग आदि से भी पहले का बना हुआ है वह क्या कहता है—

जब भगवान आदिनाथ दीक्षा लेने लगे तो माता पिता पुत्र आदि स्वेजन लोगों से पूछ कर कटि सूत्र कटक वस्त्र आदि सभी तरह के अलङ्कारों को उन्होंने त्याग दिया था जैसा कि—

आपुच्छिऊण सव्वं मायापियपुत्तसयण परिवग्गं।
तोमुयइ भूसणाई कटिसूत्तय कडय वत्थ्राई॥२३५॥

उद्देश ३

भगवान के साथ दीक्षित होने वाले उन चार हजार राजावों ने भी भगवान के समान वस्त्र त्यागे थे। बाद में जब क्षुधा से पीड़ित होकर वृक्षों पर से फल तोड़ कर खाने लगे तो वहां आकाश वाणी हुई कि श्रमण रूप में (नग्न दिगम्बर साधु वेश में) फल ग्रहण मत करो तब से वे सब वल्कलचीवर वस्त्र कुश पत्र वगेरह धारण कर फलाहार करने लगे एवं स्वच्छन्द होकर अनेक प्रकार के तापस बन गये जैसे कि उद्देश ३ में—

अहते छुहाकिलन्ता फलाइ गिण्हन्ति पायव गणेसु।
अम्बर तलम्मि घुट्टं मागिण्हह समण रूपेण॥२४२॥
ताहे वक्कल चीवर कुसपत्त नियंसणा फलाहारा।
सच्छन्द मइ वियप्पा बहुभेया तावसा जाया॥१४३॥

इस से स्पष्ट है कि श्रमणों का रूप नग्न ही होता है अन्यथा तो बाद में वे कोई तो वृक्षों की छाल कोई वस्त्र और कोई कुश पत्र न पहनते और न आकाश वाणी ही होती। तथा पउमचरियकार दिगम्बर वेश को ही प्रवृज्या मानते थे ऐसा मतलब निकलता है क्योंकि वस्त्रधारियों को वे पाखण्डी बतलाते हैं देखो उद्देश८२

जेते सामिय भता तेणसमं दिक्खिया नरवरिन्दा।
दुस्सह परीसहेहिं छम्मासाब्भन्तरे भग्गा॥२२॥
असणतिसाय किलन्ता सच्छन्द वया कुधम्मधम्मेसु।
जाया वक्कलधारी तरुमूल फलासणा मूढा ॥२३॥

किञ्च पउमचरियकार बतलाते हैं कि धर्म के दोई रूप हैं एक गृहि धर्म दूसरा यति धर्म। गृहस्थ धर्म सागार सपरिग्रह धर्म होता है किन्तु दूसरा धर्म निरागार बिल्कुल परिग्रह रहित। इनमें से श्रावक धर्म

को पालन करने वाला जीव नियम से सौधर्मादि स्वर्गों में ही उत्पन्न होता है। किन्तु जिनवर भगवान् की बताई हुई दीक्षा को पूर्ण श्रद्धा के साथ ग्रहण कर मुनि धर्म का पालन करता है वही कर्म मल को नाश कर संसार के क्लेशों से दूर होता हुआ मुक्ति को प्राप्त होता है। देखो उद्देश २१

दुविहो जिणवर धम्मो सायारो तहय होइणिरायारो
सायारोगिह धम्मो मुणिवरधम्मोनिरायारो ॥६१॥
सावयधम्मं काऊण णिच्छिवो अन्तकाल समयम्मि।
काल गवो उववज्जइ सोहम्माईसुसुरपवरो ॥६२॥
अहपुण जिनवर विहियं दिक्खधेतूण पवर सद्धाये।
हन्तूण,य कम्भमलं पावइ सिद्धिं धुदकिलेसो ॥६३॥

तथा इन्हीं पउमचरियकारने कहा है कि एक तो गृहस्थ श्रावकों के पालने योग्य है सागारधर्म तथा दूसरा मुनियों के पालने योग्य अनागार धर्म (परमदिगम्बर दीक्षा रूप जैसा कि तृतीय उद्देश में बतलाया गया है) जिनवर भगवान का कहा हुआ यह दो प्रकार का ही धर्म है। इसके सिवा जो लोग कोई तीसरा प्रकार भी मानते हैं वे बेसमझ हैं मोह के सताये हुये हैं अर्थात् भूलते हैं देखो उद्देश ६

सायारनिरायारो दुबिहो धम्मो जिणेहि उवदिट्ठो
मन्नन्ति जेहुतइयं दट्ठाते मोहजलणेण ॥२२८॥

पउमचरिय के इस सब कथन से उसका खण्डन हो जाता है जो कि बृहत्कल्प सूत्र की—

दुविहोहोइ अचेलो संता चेले असंत चेलो य।
तित्थगर असंतचेला संताचेला हवेसेसा॥

इस गाथा में उल्लिखित है कि आचेलक्य व्रत दो तरह का होता है एक तो आवश्यक वस्त्रयुक्त दूसरा बिलकुल वस्त्ररहित इनमें से तीर्थंकर तो प्रथम व्रत को स्वीकार करके नग्न दिगम्बर होते हैं किन्तु और सब लोग सवस्त्र ही मुनि होते हैं। और इस पर से यह भी जान लिया जाता है कि अचेलकता के दो भेद वाला सिद्धांत आगे चलकर समयानुसार गढ लिया गया है पउमचरियकार के समय में नहीं था हां कोई कोई मुनि वस्त्र धारण के हिमायती जरूर हो चले थे जिसका कि प्रतिवाद करने के लिये पउमचरिय कार को यह सब लिखना पड़ा है। क्योंकि स्वयं पउमचरिय कार तो हरेक मुनि के लिये हर समय हर हालत में दिगम्बरता का विधान करते हैं जैसाकि उन्होंने ने पउमचरिय के उद्देश ४१ में लिखा है—

साकन्ना पव्वइय अम्हे वियते सुणेविवित्तन्तं।
जायाणिग्गन्थमुणी पासम्मि अणन्तविरियस्स॥६॥

अर्थात्—वह कन्या प्रव्रजित हो गई (आर्यका बन गई) तो उसका वृतान्त सुनकर हम लोग भी अनन्त वीर्य स्वामी के पास निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि हो गये। याद रहे कि पउमचरिय कार ने निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग दिगम्बर साधु के लिये ही स्थान-स्थान पर किया है। इतना ही नहीं बल्कि हिन्दु वगैरह इन २ मत के भी साहित्य में वह सदा नग्न दिगम्बर के लिये ही आता है यथा बौद्धों के यहां श्री महावीर स्वामी को णिग्गंठ नातपुत्त लिखा है।

किञ्च पउमचरिय के इस कथन से "जो लोग ऐसा मानते हैं कि श्री ऋषभदेव ने और श्री महावीर स्वामी ने इन दो तीर्थ करों ने दो अचेल मुनि धर्म का व्याख्यान किया किन्तु बीच के वाबीस तीर्थकरों ने सचेल ध्यार्म वर्णन किया"

इसका भी प्रतिवाद हो जाता है क्यों कि यह कथन श्री मुनिसुव्रतनाथ के बाद होने वाले श्रीरामचन्द्र जी के समय का हैं। और इससे यही सिद्ध होता है कि साधुका एक ही आचेलक्य धर्म है जिसमे इतर सब परिग्रहों के साथ २ वस्त्र का भी त्याग करना पड़ता है एवं ऐसा करने वाला ही मुक्ति का भाजन होता है जैसा कि श्री कुन्द-कुन्द स्वामी ने लिखा है—

णविसिज्झइ वत्थधरो सिरिजिण सासणे जइवितित्थयरो
णग्गो विमोक्खमग्गो से साउम्मग्गया सव्वे ॥२३ सूत्रपाहुड

अर्थात्—तीर्थकर भगवान् जिनका कि यद्यपि मुक्ति प्राप्त होना पूर्ण निश्चित है तो भी वे भी वस्त्रों का त्याग करके प्रवृज्या धारण नहीं करते हैं तब तक उन्हें भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती ऐसा जिन शासन का कहना है। अत: नग्न दिगम्बर यथाजात अवस्था ही मोक्ष का मार्ग है इसके सिवा और सभी उन्मार्ग हैं।

स्त्री मुक्ति

इस प्रकरण में इस बात का विचार किया जायेगा कि स्त्री पर्याय से साक्षात् मुक्ति हो सकती है या नहीं इस विषय में श्री कुन्द-कुंदाचार्य क्या कहते हैं और इतर आचार्यो को वह कहां तक मान्य होता है।

स्वामी कुंद कुद ने अपने प्रवचन सार ग्रन्थ में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि स्त्रियां अपने उसी जन्म से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकती है अत: उन्हें अपने योग्य कोई भी उचित वेश लेकर धर्म साधन करना चाहिये देखो—

णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धि णहि तेण जम्मणा दिट्ठा।
तम्हातप्पडिरूपं विपप्पियं लिङ्ग मित्थीणं॥ अध्याय३

इसी बात को उन्होंने अपने सूत्र पाहुड में और भी स्पष्ट कर दिया है देखो—

जइ दंसणेण सुद्धा उत्तामग्गेण सा विसंजुत्ता।
घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसुण पव्वया भणिया ॥२५॥

यद्यपि स्त्री सम्यग्दर्शन से शुद्ध कही गई है अतः वह मोक्ष मार्ग में भी स्थित मानी गई किन्तु वीरचरिया वगैरह घोर आचरण करके प्रवर्तने वाली प्रव्रज्या अर्थात् निर्ग्रन्थ दिगम्बर दीक्षा का उसके लिए आदेश नहीं है। हां भगवती आराधना के कर्ता ने जरूर पुरुषों की भांति स्त्रियों के लिये भी अपवाद (अधूरे त्याग रूप) और उत्सर्ग (पूरे त्याग रूप) दोनों लिङ्गों का विधान किया है परन्तु उन्हों ने भी वहां पर क्या कहा है सो देखिये—

इत्थीविय जंलिङ्गं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरंवा।
तंतह होदिहु लिङ्गं परित्त मुवधिंकरीन्तीये ॥८५॥

अर्थात् स्त्रियों के लिये जो उत्सर्ग लिंङ्ग और अपवाद लिंङ्ग कहा गया है वहा वहां परिमित कम से कम एक साडी मात्र परिग्रह धारण करती हुई को ही होता है भावार्थ उनके दोनों ही तरह के व्रत एक देश त्याग रूप ही होते हैं। इसके टीका कार अपराजित सूरि के शब्दों पर लोगों को जरूर सन्देह हो जाता हैं और इसी लिये उन्होंने नीचे शङ्का उठा कर उस का खुलासा कर दिया है जिस को कि समझने लिये हम यहां पूरी टीका ही उद्धत किये देते हैं—

टीका:—इत्थी वियस्त्रियोऽपि । जंलिङ्गं । दिट्ठं **दृष्टमागमे विहितम्।** उस्सग्गियं व औत्सर्गिकं वा तपस्विनीनां। इन्दर बा **श्राविकाणां । तंतदेव ।** तत्थ भक्त प्रत्वाख्याने होदिभवति। लिंङ्गं तपस्विनीनां प्राक्तनं। **इतरासां** पुंसा मिवयोज्यं। यदि महर्द्धिका लज्जावती मिथ्यादृष्टि स्वजना च तस्याः

प्राक्तनं लिङ्गं विविक्ते आवसथे वा उत्सर्गलिङ्गं सकल परिग्रह त्यागरूपं। उत्सर्ग लिङ्ग कथं निरूप्यतेस्त्रीणामित्यत आहतंतत् उत्सर्गलिङ्ग। स्त्रिया होदि भवति। परित्तं अल्पं। उवधिं परिग्रहं करिन्तीये कुर्वत्याः।

अर्थः—स्त्रियों का जो जैसा लिङ्ग शास्त्र में बतलाया गया है उत्सर्गलिंङ्ग अर्जिकावों का अपवाद लिङ्ग श्राविकावों का वही वैसा ही वहां भक्त प्रत्याख्यान के समय भी होता है। अर्जिकावों का लिंङ्ग तो पहले कहा हुवा है श्राविकावों का अपवाद लिंङ्ग पुरुषों की भांति ही समझ लेना चाहिये। यदि वह महर्द्धिका रईस घराने की हो सौभाग्यवती वगेरह हो, लज्जावती हो या उसके कुटुम्ब के लोग बे समझ हों तब तो उसको उसी रूप में रखना चाहिये जिस रूप में कि वह पहले (अलङ्कारादि पहने हुये) थी और अगर एकान्त वास हो तो उसे भी सकल परिग्रह त्याग रूप उत्सगलिंङ्ग ले लेना चाहिये। इस पर शङ्का उठाई गई है कि स्त्रियों के लिये उत्सर्ग लिंङ्ग कैसे कह दिया गया उसका जवाब यह है कि स्त्रियों का उत्सर्गलिंङ्ग भी अल्प परिग्रह को धारण करती हुइयों का ही होता है। अर्थात् कम से कम एक साडी का धारण करना और सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर देना यही उनका उत्सर्ग रूप लिंग है पूर्णत्याग हैं। पूरा त्याग न होकर भी उनके लिये पूरा त्याग माना गया है। यद्यपि ग्रन्थ कार ने और टीका कार ने बिलकुल स्पष्ट कर दिया है कि स्त्रियों का पूर्ण त्याग भी एक देश त्याग ही है फिर भी जो स्त्री मुक्ति के पक्षपाती है वे कह सकते है कि जब उनका वही पूरा त्याग है तो उन्हें उसी अवस्था से मुक्ति भी मिल जानी चाहिये किन्तु इसका जवाब खुद आचार्य ने ही इस प्रकार दिया है कि भाई साधु ही कर्मो का नाश कर सकता है जब कि आगमविहित अपने आचरण को बिलकुल निर्दोष रूप से पालने वाला हो देखो—

साहू जहूत्थचारी वट्टन्तो अप्पमत्तकालम्मि।
झाणं कुवेदिधम्मं पविट्ठुकामो खवग सेढिं ॥२०८८॥

साध्वियो की तो बात ही क्या साधु हो कर भी जो लोग अपने मूल गुणों में एवं उत्तर गुणें में भी कहीं पर भी जरा सी कमी करने वाले है वे लोग अपने चारित्र मोहनीय कर्मका क्षय तो क्या उपशम भी नहीं कर सकते है देखो–

सव्वेसुय मूलुत्तर-गणेसु तहते अइचरन्ता णलहन्ति
खवोवसमं चरित्तमोहस्स कम्मस्स ॥१९५६॥

अब बतलाइये कि जिन अर्जिकावों के मूलगूणों में निरन्तर दोष लगते ही रहते हैं मूलगुणों में दोषमय ही जिनका रहन-सहन या जीवन है वे अर्जिकाये श्रेणी किस प्रकार चढ़ सकती है और श्रेण्याराहेण ही जब नही तो मुक्ति तो बहुत दूर है।

किञ्च आराधना भगवती के रचयिता तो बतलाते हैं कि पंडित पंडित मरण करने वाले भी लोग सब दुःखों का नाश करके निर्वाण को प्राप्त कर सकते हैं हाँ प्रायोपगमन मरण, भक्त प्रतिज्ञा मरण और इङ्गिनीमरण इन तीन मरणों के रूप में मरण करना पंडित मरण कहलाता है और उस पंडित मरण को यथोक्त चारित्र को पूरी तोर पर पालन करने वाला साधु ही कर सकता है जो कि मुक्त न होकर वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है। हां यह बात दूसरी कि पंडित मरण में उल्लिखित क्रियायें ही बाल पंडित मरण में भी यथा सम्भव की जाया करती हैं जिस मरण से कि मरा हुआ जीव जाकर कल्प वासी देवों में उत्पन्न होता है और जादे से जादे सातवें जन्म में वह मुक्ति प्राप्त कर लेना है जैसा कि–

जो भत्तपइण्णाये उवव्कमो वित्थरेणणिदिट्ठो
सोचेव बाद पंडिय मरणे णेयो जहाजोग्गं ॥२०८५॥

बेमाणियेसु कप्पोवगेसु णियमेण तस्स उववाहो
णियमा सिज्झहि उक्क स्सयेण वासत्तमम्मि भवे ॥२०८६॥

अब आचार्य ने जो आर्यिकावों के लिए एवं श्राविकावों के लिए मरण करने का विधान ऊपर लिखा है उनमे परिमित परिग्रह को स्वीकार करते हुये यथा योग्य भक्त प्रत्याख्यान रूप बाल पण्डित मरण ही बतलाया है जिस से कि मर कर वे अच्युत स्वर्ग तक में जाकर पैदा हो सकती है जैसा कि आम तोर पर दिगम्बर सम्प्रदाय में माना जा रहा है। पण्डित मरण तो वही जीव करता है जो कि महाव्रतों का धारी होता है और महा व्रतों को औरतों की तो बात ही क्या पुरुषों में से भी वही जीव धारण कर सकते हैं जो महा शक्ति के धारक होते हैं जैसा कि खुद गोतम स्वामी ने अपने प्रतिक्रमण दण्डक में महापुरिसाणुचिण्णे इस वाक्य सें व्यक्त किया है। क्यों कि मनुष्य शब्द से तो फिर भी कहीं २ मरद एवं औरत दोनों का ग्रहण हो जाता हैं किन्तु पुरुष शब्द तो हर जगह केवल मरदों के लिए ही प्रयोग में आता है तिसपर भी यहां पर तो महापुरुष शब्द है फिर तो कहना ही क्या? बल्कि हमारे यहां तो महाव्रतों की निरुक्ति ही ऐसी की जाती है कि जो महापुरुषों के द्वारा धारण किये जावें देखो रत्न करण्ड श्रावकाचार में—

पंचानां पापानां हिंसादीनां मनो वचः कायैः।
कृतकारितानुमोदै स्त्यागस्तुमहाव्रतं महातां ॥७२॥

किंच महाव्रतों को धारण करने पर ही मनुष्य मुक्ति का अधिकारी होता है ऐसा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के भी उत्तराध्ययन में लिखा है देखो—

अगारिसामाइयङ्गाणि सड्ढीकायेण फासये। पोसहं दुहवोपक्खं एगराए नहाबये २३ एवम् सिक्खा समावण्णोगिहिवासे विसुव्वये। छविपव्बावो मुच्चई गच्छे जक्खस्स लोगयं २९ अध्याय ९

हिन्दी—गृहस्थ सामायिक के अङ्ग को श्रद्धा पूर्वक कायासे स्पर्शे

अर्थात श्रद्धा पूर्वक सामायिक करे कृष्णा पक्ष व शुक्ल पक्ष यों दोनों पक्ष में प्रोषध करे इसमें एक रात्रि की भी कमी न करे २३ इस प्रकार की शिक्षा सम्पन्न जो गृहस्थ हो उसे विशुद्ध व्रती कहना वह इस हड्डी चर्म वाले औदारिक शरीर का त्याग कर उत्तम जाति के देव लोक में देव होता है।

अह जे सम्वुडे भिक्खू दोण्हं अच्चयरे सिया। सव्व दुक्खपहेणे वा देवे वाविमहड्ढिये २५ अध्याय ९

अर्थ—जो पांच प्रकार का आश्रवकारुन्धन करने वाले भिक्षुक है उनकी गति दो प्रकार की होती है। वे सर्व कर्म का क्षय कर मुक्त होवे अथवा कर्म बाकी रह जाने से महर्द्धिक देव होवे। २५

स्त्री अगर प्रव्रज्याधारण करले अर्जिका भी बन जाय तो भी वह वस्तुत: महाव्रतों की धारक नहीं हो सकती अत: वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकती इस बात को पउमचरिय नामक श्वेताम्बर ग्रन्थ में बहुत ही अच्छे ढङ्ग से स्पष्ट किया है देखो—

राजा श्रेणिक गोतम स्वामी से पूछते हैं कि हे प्रभो और भी सुनिये, जो नारी दीक्षा धारण कर लेती है वह शील और संयम में रत रहती हुई किस गति को पाती है सो बताइये। तब गोतम गणधर कहते हैं कि हे श्रेणिक जो स्त्री दृढ़ शील है पतिव्रता है सीता के सदृश है वह पुण्य कमाकर स्वर्ग प्राप्त कर सकती है।

हे राजन् घोड़े रथ पत्थर लोह और वृक्ष इन में जैसा भेद है वैसा ही पुरुषों और स्त्रियों में भेद है जैसा कि—

अन्नंपि सुणसु सामिय! जाहवइ पइव्वया इहं नारी।
साशीलसंजमरया साहसु कवणं गईं लहई॥६८॥

तो भणइ इन्दभूई जादढसीला पइव्वया महिला।
सीयाएहबइ सरिसी या सरगंलहइ सुकयत्था॥६९॥
जहतुरयरह वराणं पत्थर लोहाण पायवाणंच।
हवइ विसेसो नरवह तहेव पुरिसाण महिलाणम्॥
८०पर्व७७

यहां पर विमल सूरि ने शील संयम युक्त स्त्रियों की गति के सम्बन्ध में राजा श्रेणिक से गोतम गणधर के प्रति प्रश्न करवाया है जिसका कि उत्तर स्वर्ग गमन दिया गया है एवं वहां दृष्टान्त पूर्वक पुरुषों में और स्त्रियों में बड़ा अन्तर दिखलाया गया है। वह अन्तर पुरुषों का मोक्ष जाने और स्त्रियों का मोक्ष न जाने रूप ही हो सकता है। अन्यथा तो अन्तर बताने की कोई भी जरूरत न थी।

यहां एक विरोध अवश्य आता है कि भरत महाराज की माता केकई जब भरत दीक्षित हो गये तब वह भी प्रतिबुद्ध हुई उसका तीव्र वैराग्य हो आया अत: महा अशुचि और दुर्गन्ध युक्त अपने शरीर की उसने निन्दा की पश्चात् वह पृथ्वीमति नाम की अर्जिका के पास तीन सो स्त्रियों के साथ दीक्षित हुई और उत्तम सिद्धि पद को प्राप्त हुई ऐसा लिखा है देखो—

अहसा उत्तम नारी पडिबुद्धा तिव्व जाय सम्बेगा।
निन्दइ नियसरीरंवीभच्छं असुइ दुग्गन्धं॥२३॥
नारीण सयेहि तिहिं पासे अज्जाए पुहइ मच्चाये।
पव्य इया दढभावा सिद्धि पयं उत्तम पत्ता॥२२पर्व८३

यहां सिद्धि पद का अर्थ मुक्ति है या और कोई यह विचारणीय है। अगर मुक्ति ही है तो उपर के प्रश्नोत्तर में स्वर्ग तो बताया है मुक्ति

क्यों नही बतलाई? क्या यहां पर कुछ परिवर्तन हुआ है या और कोई बात है इसके लिए आगे का प्रकरण देखना चाहिए। सीता महादेवी को जब रामचन्द्रजी ने सारथी के साथ बन में छुड़वा दी उस समय वह वज्रजंध से अपना वृतान्त कहती हुई कहती है कि अपने पुत्र के शोक से युक्त हुई केकई भी दीक्षा लेकर चारित्र का आराधन कर उत्तम त्रिदश विमान को प्राप्त हो गई। यथा—

सुयसोग समावन्ना पव्वज्ज केकई विधेतूणं।
सम्माराहिय चरियातियस विमाण मुत्तमं पत्ता॥३३॥
प९५

यहां पर गाथा में स्पष्ट रूप से त्रिदश विमान शब्द पड़ा हुआ है जिसका अर्थ देव विमान अर्थात् स्वर्ग होता है। और भी देखिये सीता का जीव अच्युतेन्द्र श्रीरामचन्द्र केवलि से नमष्कार पूर्वक पूछता है कि हे भगवन् जो यहां दशरथ आदि थे वे और लव एवं कुश किस गति को प्राप्त हुये सो कहिये इस पर बलदेव केवली कहते हैं कि अनरण्य राजा का पुत्र दशरथ आनतकल्प में निर्मल वस्त्राभूषणों से युक्त देव हुवा निवास कर रहा है। वे दोनों ही जनक के पुत्र केकई सुप्रभा सुमित्रा और अपराजिता ये सब भी स्वर्ग में उत्पन्न हुये हैं। तथा नाना प्रकार के तप और संयम में दृढ़ विशुद्ध शीलवान धीर वीर लव और कुश अव्यावाध मोक्ष स्थान को जावेंगे। जैसा कि—

नमिऊण पुच्छइ सुरो भवयं जे एत्थ दसरहादीया
लवणं कुशाय भविया महासुकवणंगईं पता॥९०॥

जं एव पुच्छिओ सोवलदेवा भणइ आणयेकप्पे
वट्टइ अणरण्णसुवो देवो विमलम्वरा भरणो॥९२॥

तेदोविजणयतणया केगइतह सुप्पहा यसोमित्ती
अवराइयाए समयं इमाइ सग्गोव बन्नाई ॥९५॥

नाणातव स जम दढा विशुद्ध सीला लवं कुसाधीरा
गच्छीहन्ति गुणधारो अव्वावाहं सिवं ठाणं ॥४६॥
पर्व ११८

यहां गाथा नम्बर ४५ में भी केकई को स्वर्ग में उत्पन्न हुई बतलाया है। एवं शीलसंयम युक्त स्त्रियां स्वर्ग जाती हैं। उसी एक केकई को एक स्थल में सिद्धि पद को प्राप्त हुई कहा गया और आगे एक ही जगह नहीं बल्कि दो स्थलों पर त्रिदशविमान में और स्वर्ग में जाना लिखा है। यह विरुद्ध कथन खटकता है।

मालूम पड़ता है कि सिद्धि पद परिवर्तित हो गया है। इसके स्थान में तिदसपयंउत्तमं पता ऐसा हो सकता है।

यदि स्त्री घोर तप करे महीने महीने पारणा करे तो भी अपने कुत्सितलिङ्ग के दोष से सिद्धि प्रस्त नहीं कर सकती। स्त्रियां माया और प्रमोद से भरी पूरी होती हैं प्रति महीने उनके प्रक्षालन होता है हमेशा योनी झरती रहती है चित्त की दृढ़ता भी उनके नहीं होती। उनको योनि नाभी औ कूख में तथा शरीर के और स्थानों में भी सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्त मनुष्यों की उत्पत्ति होती रहती है इस कारण से स्त्रियों के दोनों ही तरह का संयम धारण नहीं होता और संयम के बिना मुक्ति हो नहीं सकती उस जन्म से ऐसा देव सेन के भाव संग्रह में लिखा है देखो:—

जइतप्पइ उग्गतवं मासे मासे च पारणं कुणई ।
तहविण सिज्जइ इत्थी कुच्छियलिङ्गस्स दोसेण॥९॥

माया पमायपउरा पडिमासंतेसु होइ पक्खलणं
णिच्चं जोणिस्सावो दारङ्कं णत्थि चित्तस्स॥९३॥
सुहमापज्जत्ताणं मणुवाणं जोणिणाहिककक्खेसु
उप्पत्ती होइ सया अण्णेसुयतणु पयेसेसु॥९६॥
णहु अत्थि तेणतेसिं इत्थीणं दुविह संजमोद्धरणं
संजम धरणेण विण णहु मोक्खोतेण जम्मेण॥९५॥

अब आइये कर्म सिद्धांत ग्रन्थों की तरफ देखियेगा गोमट्टसार जीव काण्ड—

दंसण मोहक्खावणा पट्ठवगो कम्मभूमि जादोहु।
मणुसो के वलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ॥९४७॥

अर्थात्-दर्शनमोह कर्म के क्षय का प्रारंभ केवली या श्रुतकेवली के सन्निकट प्रदेश में कर्म भूमि में उत्पन्न हुवा मनुष्य ही कर सकता है हां उसका निष्ठापन तो चारों ही गतियों में कर सकता है।

हां गाथा में जो मनुष्य शब्द पड़ा है वह द्रव्य मनुष्य-पुरुष का वाचक है उसी के ही क्षायिक सम्यक्त्व होता है। द्रव्यस्त्रियों के और द्रव्य नपुन्सकों के क्षायिक सम्यक्त्व नही होता और क्षायिक सम्यक्त्व के बिना मुक्ति नहीं होती।

अन्तिमतियसं हणण स्सुदवो पुणकम्म भूमि महिलाणं
आदिमतियसंहणणं णत्थित्तिजिणेहिणिद्दिट्ठं ॥३२॥गो.क.

यह गोमट्टसार कर्मकाण्ड की गाथा है इसमें बताया गया है कि जिन शासन में कर्मभूमि की स्त्रियों के सुरू के तीन संहनन न होकर अन्त के तीन संहननों में से कोई होता है। वज्रवृषभनाराच १ वज्रनाराच

२ नाराच ३ अर्द्धनाराच ४ कीलित ५ और असंप्राप्ता स्टपाटिक ६ इस प्रकार 6 सहनन' होते हैं। इनमें से वज्रवृषभनाराच संहनन वाला ही मोक्ष जाता है। कर्मभूमि की स्त्रियों के वह होता नहीं अतः मुक्ति भी नहीं होती। मुक्ति जाने में यही एक कारण नहीं है किन्तु उन अन्य कारणों के होते हुये यह भी एक उन में है।

कर्मसिद्धान्त के अनुसार जो जीव जितना अधिक पाप कर्म कर सकता है वही उसी सीमा तक सत्कर्म करने की भी ताकत रखता है देखो गोमट्टसार—

णवगेविज्जणुद्दिस णुत्तर वासीसु जान्ति तेणियमा
तिगुगेगे संचडणे णरायण मादिगे कमसों।।क.का. ३०

अर्थात् प्रथम तीन संहननों के धारक जीव नबग्रेयवेयकों में जाकर पैदा होता हैं। किन्तु नव अनु दिशों में नाराचसंहनन वालों को छोड़कर वज्रनाराच और बज्रवृषभनाराच संहनन वाले जीव ही जा सकते हैं। एवं विजयादि अनुत्तर विमानों में तो एक वज्रर्षभ नाराच संहनन धारी जीव ही जा सकता है। आगे और देखिये—

सण्णी छस्सहडणो वज्जदि मेघंतदो परंचावि
सेवट्टादीरहिदो पण पण चदुरेग संहडणे ३१ कर्मकाण्ड

अर्थात्—संज्ञी जीव छह संहननों में से किसी भी संहनन से तीसरे नरक तक, सृपाटिका संहनन रहित जीव पांचवें नरक तक, पांचवें और छटे संहनन विना चार संहननों में से किसी भी संहनन का धारक जीव छटे नरक तक किन्तु प्रथम संहनन का धारक जीव सातवें नरक में जा सकता है।

एवं स्त्री उत्तम संहनन की धारक नहीं होती इसलिये वह सातवें

नरक न जाकर छटे नरक तक ही जाती है देखो त्रिलोक प्रज्ञप्ति-आपञ्चमीति सिंहा इत्थीवोजन्ति छट्टिपुढवीति अर्थात् सिंहसरीखे कूर जीव मर कर पांचवें नरक तक और स्त्री छटे नरक तक जा सकती है। यही बात श्वेताम्बरीय ग्रन्थ प्रकरण रत्नाकर के संग्रेहणी सूत्र नामक प्रकरण में लिखी हुई है देखिये:—

दोपढम पुढविगमणं छेवट्टे कीलियाइ संघयणे
इक्किक्किपुढविउड्ढी आइतिलेस्साउनरयेसु ॥२३६॥

अर्थात्—छटे संहनन वाला जीव दूसरे नरक पांचवें संहनन वाला तीसरे तक, चोथे संहनन वाला चोथे तक तीसरे संहनन वाला पाचवे तक, दूसरे संहनन वाला छटे नरक तक और प्रथम वज्रर्षभनाराच संहनन वाला सातवें नरक जा सकता है।

असन्निसिरिसिव पक्खी ससीह उरगिच्छि जाछट्टिं
क्रमसो उक्कोसेणं सत्तम पुढवी मणुय मच्छा॥२३९॥

अर्थात्—असैनी जीव पहले नरक तक पेट के सहारे चलने वाले गोह वगेरह दूसरे नरक तक पक्षी तीसरे नरक तक सिंह आदि पशु चोथे नरक तक सर्प वगेरह पांचवे नरक तक स्त्री छटे नरक तक जादे से जादे जा सकते है किन्तु सातवे नरक तो मनुष्य और मगर मच्छ ही जाते हैं।

छटिंचइत्थियावो मच्छा मणु या यसत्तमी पुढवीं।
एसोपर मुव्वाओ वोद्धव्वो नरय पुढवीसु॥९२॥
प्रवचन सारोद्धार पृष्ट ३२३

तथा इसी ग्रन्थ के संग्रेहणी सूत्र कीं १६० वी गाथा में यों लिखा है—

छेवट्टेणउ गम्मइ चउरो जाकप्प की लियाईसु।
चवसुदुदु कप्प उड्ढी पढमेणं जाव सिद्धिवी॥

अर्थात्—छटे संहनन वाला तीसरे चोथे स्वर्ग तक, पाचवे वाला पांचवे छटे स्वर्ग तक, दूसरे संहनन वाला ग्यारहवें और बारहवें स्वर्ग तक जा सकता है किन्तु प्रथम संहनन वाला ही अहमिन्द्रों में उपज सकता है। और वही मुक्ति पा सकता है। याद रहे कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में स्वर्ग बारह ही माने गये हैं।

अब इस कथन से सिद्ध है कि स्त्री अच्युत स्वर्ग तक जाने योग्य पुण्यसंचय कर सकती है अहमिन्द्र नहीं हो सकती और न मुक्ति ही पा सकती है बस तो यही बात दिगम्बर सम्प्रदाय भी मानती है।

एवं इसी श्वेताम्बर ग्रन्थ प्रवचन सारोद्धार के तीसरे भाग में पृष्ठ ५४४-४५ में—

अरहन्त चाक्कि केसव वल सम्भिन्ने यचारणे पुव्वा।
गणहर पुलाय आहारणं चनहु भवइ महिलाणं॥

अर्थात्—औरतों में तीर्थ कर चक्रवर्ती नारायण वलभद्र सम्भिन्न श्रोता चारणर्द्धि धारक पूर्वधर पुलाक मुनि और आहारकर्द्धि युक्त जीव नहीं होते है।

अब जबकि स्त्रियों को पूर्व ज्ञान ही नहीं होता तो फिर केवल ज्ञान होकर मुक्ति किस प्रकार हो सकती है? क्योंकि शुक्ले चाद्ये पूर्वविद: इस उभय सम्प्रदाय के मान्य तत्वार्थसूत्र के विधानानुसार विनापूर्ण ज्ञान के शुक्ल ध्यान नहीं और शुक्ल ध्यान के अभाव में श्रेण्यारोहण नहीं तो फिर मुक्ति की तो बात हो कहां? इस प्रकार से स्त्री मुक्ति का निषेध जितना दिगम्बर सम्प्रदाय में है उतना ही श्वेताम्बर सम्प्रदाय के

भी सिद्धांत ग्रन्थों में पाया जाता है। बल्कि उनके मान्य ग्रंथ पउम चरिय में तो बिल्कुल स्पष्ट है कि पुरुष ही मुक्ति पाता है स्त्री नहीं जैसा कि हम पहले बता आये है तथा और भी देखिये—

महरिसिधम्मेण पुणो अव्वावाहं सुहं अणोवमियं
पावन्ति समणसिंहा विशुद्धभावा नराजेऊ ॥२२३॥
उद्देश ६पउ.

इसमें बतलाया है कि जो महापुरुष होते है वे मुनि धर्म धारण करके अपने भावों को निर्मल बनाते हुए क्षपक श्रेणी चढ़कर साधुवों में शिरोमणि कहलाकर अव्यावाध और अनुपम मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं।

यहां पर जो नराशब्द पड़ा हुवा है उससे स्पष्ट है कि पुरुष ही ऐसा कर सकते हैं स्त्रियां नहीं। अन्यथा तो फिर नरा शब्द का उपयोग ही क्या? । यह पउमचरिय ग्रन्थ श्वेताम्बरों के आगम ग्रन्थ आचाराङ्गादि से तथा दिगम्बर सम्प्रदाय के षट्खणडागम ग्रन्थ से भी पहले का विक्रम सम्मत ९० में बना हुवा है ऐसा माना जा रहा है।

श्वेताम्बरों में उववाई सूत्र नं. १२ पृष्ट २०५ में भी लिखा है कि स्त्री को बज्रर्षभनाराच संहनन नहीं होता है एवं जो बज्रवृषभ नाराचसंहनन धारी है ऐसा मनुष्य ही मोक्ष जा सकता है।

अब इस पर एक शङ्का शेष रह जाती है और वह यहं कि जब स्त्री को मुक्ति नहीं होती हो फिर दिगम्बर सम्प्रदाय के ही मान्य और प्राचीन ग्रन्थ षट्खण्डागम में पुरुष की भांति स्त्री के भी चोदह गुण स्थान क्यों कहे हैं? इसका समाधान यह कि-जो पुरुष शरीर धारी जीव क्षपक श्रेणी चढ़ते समय जिस वेद को (स्त्री भाव पुरुष भाव या नपुन्सक भाव को) लेकर श्रेणी प्रारंभ करता है उसे वही मानकर अर्थात् पुरुष वेद से क्षपक श्रेणी मांडने वाले पुरुष शरीर धारी जीव

को पुरुष एवं स्त्री वेद से क्षपक श्रेणी मांडने वाले पुरुष शरीर के धारक जीव को स्त्री मानकर उसके चोदह गुण स्थान बतलाये गये है। तथा नपुन्सक को उभय रूप मानकर षट्खण्डागम कार ने नपुंसक वेद से क्षपक श्रेणी मांडने वाले पुरुष को नपुंसक मान उसके भी उन्हीं सूत्रों से चोदह गुण स्थान कहें हैं। ऐसा न मानकर अगर उन सूत्रों में आये हुए मनुष्य शब्द से तो पुरुष शरीर धारी और मनुष्यिणी शब्द से स्त्री शरीर धारी जीव का ग्रहण कर उसी के चोदह गुण स्थान होना कहा जाय तो फिर नपुंसक को कितने गुण स्थान होते है इसका बतलाने वाला जुदा कौन सा सूत्र है कोई भी नहीं। तो फिर क्या नपुंसक के कोई भी गुण स्थान नहीं होता है? अपितु होता है और उसका व्याख्यान भी आचार्य ने इन्हीं सूत्रों में लेलिया है। बल्कि मेरा निज का तो यह विचार है कि आचार्य श्री ने

मणुसगदीये मणुस मणुस पज्जत्त मनुसिणीसुमिच्छाइट्ठि पहुदि जाव अजोग केवलीकेवडिखेत्ते?

लोगस्स असंखे ज्जदि भागे ।।५।।क्षेत्रानुगम।

मणुसगदीये मणुसमणुसपज्जत मणुसिणी मिच्छाइट्ठीहिं केबडियं खेत्तं पोसिदं, लोगस्स असंखेज्जदिभागे ।।३४।। सव्वलोगोवा ।।३५।। (स्पर्शानुगम)

इन ऐसे सूत्रों में तीनों वेदों का एक साथ वर्णन करते हुए इस संगठन से यही सूचित किया है कि एक ही शरीर में क्रमशः या व्युत्क्रम रूप में (एक साथ न होकर यथा सम्भव) तीनों वेद हो जाते हैं। अस्तु।

वीती हुई बात को भी आगे तक मानते ही चले जाते हैं ऐसी

हमारी आचार्यों की पद्धति अनेक स्थलों पर पाई जाती है देखिये कि तत्वार्थ सूत्रकार ने क्षेत्र काल गतिलिङ्ग तीर्थ चारित्र प्रत्येक बुद्धवोधित ज्ञानावगाहनान्तर संख्याल्प वहुत्वतः साध्या इस सूत्र में अपनाई है। आचार्य कहते हैं कि गतिलिंङ्ग वगेरह से सिद्धों में भी भेद कर लेना चाहिये तो अब देखिये कि गति के द्वारा क्या भेद करेंगे क्योंकि जो भी सिद्ध हुये या होंगे वे मनुष्य गति ही से तो फिर भेद कैसा कि जिस गति से आकर चरम शरीर पाकर मुक्त हुवा उसे उसी गति वाला मानना। नरक गति से आकर मनुष्य होकर मुक्त हुवा उसे नरक गति से मुक्त हुवा मानना इत्यादि। इसी प्रकार ज्ञान चरित्र वगैरह में भी पूर्वचर चारित्र मान कर हीं तो भेद करेंगे अन्यथा तो केवल ज्ञान से और यथा ख्यात चारित्र से ही सभी मुक्त होते है। इसी प्रकार पुरुष वेद से श्रेणी मांड ने वाले को तो मनुष्य और स्त्री वेद से श्रेणी माण्डकर मुक्त होने वाले को स्त्री मानकर उनके चोदह गुण स्थान बतलाये है। नहीं तो फिर पुरुष शरीर से ही सब मुक्त होते हैं। जैसा कि कुन्दकुन्दाचार्य ने सिद्ध भक्ति में बतलाया है—

पुवेदं वेदन्ता जपुरिसा खवगसेढि मारूढा।
सेसोदयेण वितहा झाणुवजुत्ता दुसिज्झन्ति॥

अर्थात् भाव पुरुष वेद का अनुभव करते हुये जो पुरुष शरीरी जीव हैं वे क्षपकम श्रेणी में आरोहण कर एवंशेषोदय अर्थात् भाव स्त्री और भाव नपुसंक वेद के उदय से युक्त पुरुष शरीरी जीव भी क्षपक श्रेणी में आरोहण कर शुक्ल ध्यान से उपयुक्त होते हुये मुक्ति लाभ करते हैं। जैसा श्री कुन्द-कुन्दाचार्य ने लिखा है वैसा ही दिगम्बर सम्प्रदाय के इतर सभी आचार्य एक स्वर से स्वीकार करतें हुये देखे जा रहे हैं।

शङ्का—यही तो हम कहते है कि कुन्द-कुन्द ने तो ऐसा ही लिखा है और उनका अनुकरण करके औरो ने भी स्वीकार किया

है तथा षट्खण्डागम का भी भाव परक अर्थ लगा कर समन्वय कर लिया है किन्तु षट्खण्डागमकार का यह अभिप्राय नहीं है कि वे तो स्पष्ट रूप से मनुष्य और मनुष्यणी के दोनो के भिन्न २ चौदह गुणस्थान बता रहें है बल्मि यह तो कुछ समझ में ही नही आता कि पुरुष शरीर स्त्रीपन का काम देदे और स्त्री शरीर पुरुष का, क्या आंख से कान का और कान से आंख का काम भी हो सकेगा? नहीं कभी नहीं। किन्तु यह तर्क ठीक नहीं है क्यों कि हमारे कर्म सिद्धान्त के ग्रन्थों में वेद वैषभ्य स्पष्ट रूप से स्वीकार किया हुवा है। हमारे ही नहीं स्त्री मुक्ति मानने वालो के शास्त्रों में भी वेद वैषभ्यतो एक स्वर से माना जाता है देखो प्राकृत पञ्च संग्रह—

उदया दोंणो कसायाण भाववेदो यजन्तूणं।
जोणीय लिङ्ग माई णामोदय दव्वे होदु॥२०३॥

इत्थी पुरिस णवुंसय-वेया खलु दव्वभावदो होंति।
ते चेवय विवरी या हवन्ति सव्वेजहाकमसो॥२०९॥

अर्थात्—स्त्री पुरुष और नपुन्सक इन तीन नोकषायों के उदय से जीवों के भाव वेद होता है। और नाम कर्म के उदय से योनी लिङ्ग आदि रूप द्रव्य वेद होता है। स्त्री पुरुष नपुन्सक ये तीनों वेद द्रव्य और भाव से समान तो होते हं किन्तु कभी कहीं असमान भी होते है।

इसी प्रकार नेमिचन्द्राचार्य के गोमट्टसार, अमितगति के पञ्च संग्रह आदि और भी ग्रन्थों में वेद वैषभ्य होना बतलाया गया है।

बल्कि उपर्युक्त प्राकृत पञ्च संग्रहकार श्वेताम्बराचार्य चन्द्रर्षि तो उस ग्रन्थ की स्वोपज्ञ टीका में इस प्रकार से लिखते हैं—जावादारों तो वेदेसु तिसुवि अर्थात् या वदनिवृतिवादर स्ताव त्सर्वेऽपिमिथ्या दृष्ट्याद्या

वेदेषु त्रिष्वपिभवन्ति। अर्थात् वे कहते है जहां तक अनिवृतिवादरगुण स्थान है वहां तक सभी मिथ्या दृष्टयादि गुण स्थान तीनों ही वेदों में होते है। इस पर फिर स्वयंशं का उठा कर समाधान करते हैं- त्रिष्वपि वेदेषु वादर कषायं या वद्धवतीत्युक्त आह-तेहि किं द्रव्य वेदेषु? यदि द्रव्य वेदेषुतदानी प्रत्यक्ष विरोधस्त दुपरित नेष्वपित द्दर्शनात्। अथ चेद्भवदेवेषु तत्कथं वेदोदये सत्यपितेषां चरण भिति अत्रोच्यते-द्रव्य वेदोदयस्ताव दत्रनैवा द्दतोमया। भाववेदोदये वृमश्चरणन्तु यथा भवेत् ॥२॥ सर्वघातिकषायाणां क्षयोपशमसम्भव:। भाववेदोदयो नैतत् हन्तियस्मात्सदेशहा ॥२॥ हन्त्येवतद्वलोयद्वत् सवांयुरनलस्त्टणं। देशहा केवल स्तस्य स्वोदय:- सम्प्रकीतित: ॥३॥ अर्थात् तीनों ही वेदों में बादर कषाय नामक नोंवा गुण स्थान तक होते हैं ऐसा जो करा उस पर शंका होती है कि वे नों गुण स्थान द्रव्य वेदों में होते है या भाव वेदों में। यदि द्रव्य वेदो में तब तो प्रत्यक्ष विरोध है क्यों कि नवम गुण स्थान से उपर भी तो द्रव्य वेद अर्थात् शरीर की सत्ता रहती है। और अगर भाव वेद कहो तो वेदो के उदय में चारित्र कैसा? इस पर जवाब देते है कि यहां पर मैंने द्रव्य वेद नहीं ग्रहण किया है किन्तु भाव वेद लिया है। भाव वेद में चारित्र क्यों होता है सो बताते है। सर्वघाति कषायो का क्षयोपशम हो जाने से होने वाला भाव वेद का उदय, चारित्र का घात करने में समर्थ नहीं होता क्योंकि वह केवल वेदोदय देश घाति है। जब तक उसे सर्वघातिकषायो का सहारा मिलता है तब तक तो वह हानि पहुंचाता है जैसे कि वायु की सहायता वाला अग्नि इधर उधर के घास को जला सकता है। परन्तु उसके अभाव में वह केवल अपना सत्तामात्र कायम रखता है। इसके बाद में वे फिर लिखते है—

उदयो भाववेदस्य यतो नादिः प्रतिक्षणः।
पर्येयेण तदे कस्मिन् द्रव्यवेदेहि सत्यपि ॥४॥

संख्यातीता हि भेदास्स्यु स्तस्य सिद्धान्तसिद्धितः
तेषामन्तर्गता केचिछद्मस्थनां प्रतीतिदाः ॥५॥

यथापितादयोदोषाः सर्वजंतुगता अपि।
उत्कटत्वविहीनास्तु नभवेयुविवाधकाः ॥६॥

कषायस्योदये यद्वद् व्यपदेशोनभं दके।
भाववेदो दयेऽप्येवंव्यपदेशो न बाधनं ॥७॥

द्रव्य वेहाच्चनिर्देश स्त्रिविधो लिङ्गिनांभवेत्।
तत्वतोन भवत्येवसूक्ष्मादीना मसावपि ॥८॥

सत्यपिद्रव्य वेदे नासौभावस्य कारणं।
दग्धरज्जुवदाकार मात्रत्वाद् व्यवहारतः ॥९॥

उच्यते द्रव्य वेदोहिनासावत्रोररीकतः।
सति वेदोदयेतस्मा द्विद्यते चरणत्रयं ॥१०॥

अर्थात्—भाव वेद का उदय अनादि है और प्रतिक्षण होता है। एक द्रव्य वेद के होते हुये भी वह क्रम से बदलता है। क्योंकि उसके असंख्यात भेद हैं जो कि सिद्धान्त से सिद्ध हैं। उनमें से कितने ही तो छद्मस्थों के ज्ञान गोचर हैं जैसे पित्तादिदोष सब लोगों में पाये जाते हैं।

परन्तु वे उनको बाधा नहीं पहुंचाते। एवं जिस प्रकार कषायों का मन्दोदय होते हुये भी वह उनको बाधक नहीं होता उसी तरह भाव वेद का मन्दोदय भी बाधक नहीं हुवा करता है। द्रव्य से भी लिङ्गियों का निर्देश जो तीन प्रकार का है वस्तुतः सूक्ष्मादि गुणस्थानों में वह भी नहीं होता है। द्रव्य वेद है तो भी वह भाव का कारण

नहीं है वह तो जली जेवडी सरीखा होता है। द्रव्य वेद तो यहां पर स्वीकृत ही नहीं है और भाव वेद का उदय होते हुये भी तीनों चारित्र होते हैं। अभिधानराजेन्द्र में तो छटे भाग में और भी स्पष्ट कर दिया है जो कि १४२७ वहां लिया है:—

प्रत्येकंत्रिकभङ्गाः। त्रिविधेऽपि प्रत्येकंत्रिकभङ्गः कर्तव्योभवति कथमितिचे

दुच्यते-पुरुषः पुरुषवेदं वेदयति पुरुषः त्री वेदं पुरुषोनपुंसक वेदं वेदयति।

एवं स्त्रीनंपु सकयोरपि वेदत्रयं। तथा वृहत्कल्प सूत्र के उद्देश चार में भी, तिविहिम्म वेदम्मि तियभङ्गो कायव्वो॥५५४७॥

इस प्रकार लिखा हुवा है।

मतलब वेद वैषभ्य दोनों सम्प्रदायों में एकसा माना गया है और उस में इन्द्रियों के वैषभ्य न होने का जो दृष्टांत दिया जाता है वह ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियां क्षपोपशम भाव को लिये हुये होती है जिनका कि पांचों का क्षयोपशम एक काल में रहता है। उन इन्द्रियों के उपाङ्ग जो कि जुदे जुदे है अङ्गोपाङ्ग नाम कर्म के उदय से हुये होते है जिन के कि द्वारा इन्द्रियां अपने २ विषय को ग्रहण करती है। इधर वेद जो है वह औदयिक भाव, है जो कि मोहनीयका भेद है और क्रम से होता है। द्रव्यवेद (शरीर रूप) भी औदिक भाव है जो शरीर नामक कर्म के साथ साथ अङ्गोपाङ्ग नाम कर्ममय होता है और जो कि जन्म से लेकर मरणपर्यन्त एक (तद्भव) रूप होता है। नाम कर्म अपना कार्य करता है तो मोहनीय कर्म अपना कार्य। इस

में तो उदाहरण लेश्यावों का लेना चाहिये जैसे द्रव्यलेश्या-शरीर रङ्ग रूप एवं शरीर से तन्मय होकर अपनी सत्ताभिन्न रखती है और भावलेश्या होती है वह मोहोदय रूप अपना कार्य स्वतंत्र करती है बस इसी प्रकार द्रव्य वेद और भाव वेद का हाल है बल्कि द्रव्य वेद और भाव वेद भिन्न भिन्न होते है इस बात को स्वयं षटखण्डागमकार भूतवलि आचार्य भी बतलाते है आइये देखिये षटखण्डागम के वेदना खण्ड में प्रश्न किया गया है कि उत्कृष्ट आयुकर्म की वेदना काल की अपेक्षा किसके होती है अर्थात् उत्कृष्टायु कौन बान्धता है इस पर उत्तर देते हुये यों कहा है—

अण्णदरस्स मणुस्सस्स पञ्चेन्द्रियकितर क्ख जोणीयस्सवा, सण्णिस्स सम्भाइट्ठिस्सवा मिच्छाइट्ठिस्सवा सव्वाहिंपज्जत्तिहिं पज्जत्तरयस्स कम्मभूमिस्सवा। कम्मभूमिपडिभागस्सवा संखेज्जवस्साउवस्स इत्थि वेदस्स वा पुरिस वेदस्सवा णंवुसय वेदस्स वा जलचरस्सवा। थलचरस्सवा सागर जागर तप्पावोग्ग संकिलिट्ठस्स वातप्पा वोग्गविशुद्धस्सवा उक्कसियाए आवाधाये जस्सतं देवणिरियाउवं पढ़मसमए वन्धन्तस्स आउय वेयणा उक्कस्सा। वेयणाखण्डे

भावार्थ:—संज्ञीमिथ्या दृष्टि या सम्यग्दृष्टि पूर्ण पर्यासियों वाला कर्म-भूमिजात अथवा कर्मभूमि प्रतिभागजात संख्यात वर्ष की आयु वाला नपुंसक वेद वाला स्त्री वेद वाला वा पुरुष वेद वाला जलचर वा थलचर साकार उपयोग वाला जागृत, उत्कृष्ट आयु योग्य संक्लेश परिणाम वाला अथवा उत्कृष्ठ आयुयोग्य विशुद्ध परिणाम वाला उत्कृष्ठ आवांधावाला देवायु और नरकायुकों कोटि पूर्व त्रिभाग के प्रथम समय में बांधने वाला ऐसा कोई एक मनुष्य या पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च पशु हो उसके उत्कृष्ट आयु वेदना होती है। मतलब यह कि परभव सम्बन्धि सातवें नरक की तेतीस सागर की उत्कृष्ट नरकायु को बांधने वाले तो संक्लेश परिणाम वाले मिथ्या दृष्टि मुनष्य या तिर्यञ्च दोनों होते हैं परन्तु सर्वार्थसिद्धि सम्बन्धी तेतीस सागर की उत्कृष्ट देवायु का बान्धने वाला विशुद्ध परिणामी सम्यग्दृष्टि निर्ग्रन्थ

मनुष्य ही होता है।

इस में श्री भूतवलि स्वामी ने दोनों बातें स्पष्ट करदी हैं एक तो यह कि एक ही द्रव्यवेद (शरीर) में तीनों वेद हो सकते हैं। दूसरी यह कि उत्कृष्ट आयु का बांधने वाला पुरुष ही होता है स्त्री नहीं क्योंकि यहां पर मनुष्य शब्द पुरुष का ही वाचक है स्त्रीका नहीं और स्त्री पुरुष दोनों का भी नहीं क्योंकि औरत के लिये तो आचार्य मनुष्यणी शब्द का प्रयोग करते हैं बल्कि जहां पर मनुष्य शब्द है उस सूत्रों में भी औरत का वाचक मनुष्यणी शब्द जुदा देते हैं यह इन आचार्य की स्पष्ट पद्धति है अत: मानना होगा कि यहां पर मनुष्य शब्द में केवल पुरुष को लिया गया है। और स्त्री नरकों की एवं देवों की उत्कृष्ट आयु का बन्ध नहीं कर सकतीं इस में प्रधान कारण हीन संहननता ही है हीन संहनन से मुक्ति प्राप्ति हो नहीं सकती ऐसा अटल नियम है अत: षट्खण्डागम से भी स्त्री मुक्ति का निषेध साफ तोर पर है जैसा कि कुन्दकुन्दाचार्य, तथा इतर दिगम्बर जैनाचार्य एवं श्वेताम्बर जैनाचार्य भी मानते हैं। हां यह दूसरी बात है कि कतिपय श्वेताम्बर जैनाचार्यों के द्वारा स्त्री मुक्ति का विधान भी किया हुवा मिलता है परन्तु वह पूर्ण रूप से वाधित हैं देखियें:—

मल्लिनाथ तीर्थंकर जिन को श्वेताम्बरीय ग्रन्थानुसार मल्लिकुमारी कहना चाहिये। यह तीर्थंकर होने के पहले तीसरे भव में महाबल नाम का राजा था। उसके छह मित्र और थे। महाबल राजा संसार से विरक्त होकर साधु हो गया। साथ ही उसके छहों मित्र भी साधु होगये। उन सातों ने आपस में यह निर्णय किया कि हम सब समान तपश्चरण करें जिससे उत्तर जन्म में भी हम लोग समान ही रहें। तदनुसार छहों मित्र तो एक समान ही तपश्चरण करते रहे परन्तु महाबल गुप्त रूप से उनसे अधिक तप करने लगा। इस माया चार के कारण उसने स्त्री वेद का वन्ध किया किन्तु शोडष कारण भावनावों के द्वारा उसने तीर्थंकर नाम

कर्म का भी वन्ध कर लिया। आयु समाप्त होने पर वे सातों साधु जयन्त नामक अनुत्तरविमान में जाकर पैदा हुये। वहां पर महाबल के जीव की ३२ सागर की और शेष उन छहों लोगों की ३२ सागर से कुछ कम आयु हुई। वहां से चयकर वे छहो अहमिन्द्रतो अङ्ग कोशल आदि देशों के राजकुमार हुये और महाबल का जीव मिथिला नरेश कुम्भ राजा के घर मल्लिकुमारी नाम की पुत्री तीर्थंकर हुई क्योंकि महाबल भव में इसने छल पूर्वक तप किया था।

मल्लिकुमारी जब युवति हुई तो उसकी सुन्दरता पर आसक्त होकर पूर्वभव के मित्र उन छहो राजकुमारों ने उसे अपनी २ पत्नी बनाने को कुम्भ राजा पर चढ़ाई करदी। युद्ध में कुम्भ राजा हार गया। किन्तु मल्लिकुमारी ने एक अपनी जैसी सुवर्ण मूर्ति को दिखाकर उसके अन्दर सञ्चित दुर्गन्धि द्वारा उन राजकुमारों को संसार से विरक्त कर दिया।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय इस कथा को बिलकुल सही मानता है किन्तु यह कथा श्वेताम्बरीय और दिगम्बरीय आगम के विपरीत पड़ती है देखिये :—

१—महाबल राजा ने साधु अवस्था में छल पूर्वक तपस्या करते हुए जो स्त्री लिङ्ग का वन्ध किया था वह तीर्थंकर प्रकृति के अनुसार अधिक से अधिक अन्तर्मुहत सहित आठ वर्ष कम दो कोटि पूर्व वर्ष और २२ सागर की स्थिति वाला होगा जोकि अपना आवाधा काल करीब १ वर्ष बीत जाने पर अवश्य उदय में आना ही चाहिये। श्वेताम्बरीय कर्म ग्रन्थ प्र० सारोद्धार तथा दिगम्बरीय कर्म ग्रन्थ गोमट्टसार के अनुसार एक कोडा कोडी सागर स्थिति वाले कर्म का आवाधाकाल १०० वर्ष होता है मतलब एक कोडा कोडी सागर की स्थिति वाला कर्म एक सो वर्ष पीछे अवश्य उदय में आता है। महाबल ने तो १०० सागर की स्थिति वाला भी स्त्री लिङ्ग नहीं बान्धा था। अत: महाबल मर कर उस स्त्री लिंङ्ग के उदय से देव न होकर अच्युत स्वर्ग तक की

कोई देवी होना चाहिये। वह जयन्त विमान का देव किस तरह हुवा। और महाबल के भव में बांधा हुवा स्त्री लिंग ३२ सागर बाद में मल्लिनाथ के भव में कैसे उदय में आया। नहीं आ सकता।

२—आणय पमुहा चइउं मणुवेसु चेवगच्छन्ति। प्रवचन सारो द्वार गा० १६५ पृ० ७७ इस के अनुसार अनुत्तर विमान से चय कर आया हुवा जीव स्त्री शरीर नहीं पाता। पुरुष ही होता है।

३—जैसा हम पहले लिख आये हैं उस अरहन्त चक्कि के बस वे त्यादि गाथानुसार स्त्री शरीर धारी को तीर्थंकर पद नहीं मिल सकता है।

४—आवश्यक नियुर्क्ति नामक ग्रन्थ में पांच बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकरों की बाबत इस प्रकार लिखा हुवा है—

वीरं अरिट्ठणेमिं पासं मल्लिंच वासुपूंज्जच ।
एऐ मुत्तूण जिणे अवसेसा आसिरायावो ॥ २२२ ॥
णय कुलेसु विजाया विसुद्धवं सेसु खित्तिय कुलेसु णय
इत्थि आभिसे आ कुमार वासम्भि पव्वइया ॥ २२२ ॥

इसके णय इत्थि आभिसेआ इस पद की टिप्पणी इस प्रकार है—

स्त्री पारिणग्रहण राज्यभिषेकोभय रहिता इत्यर्थः। अर्थात् महावीर अरिष्टनेमि पार्श्वनाथ मल्लिनाथ और वासुपूज्य ये पांच तीर्थंकर ऐसे हुये जिनका स्त्री पाणिग्रहण भी नहीं हुवा और राज्याभिषेक भी नहीं हुवा। ये यद्यपि ज्ञत्रिय राजकुलोत्पन्न थे। फिर भी कुमार अवस्था में ही ये लोग दीक्षित हो गये थे। जैन साहित्य और इतिहास पृष्ट ५७२।

आवश्यक निर्युक्ति के इस कथन पर से स्पष्ट है कि भगवान मल्लिनाथ पुरुष थे तब ही तो इन का नाम पुलिङ्ग रूप में ग्रहण किया है एवं अन्य चार तीर्थंकरों के समान उन्हें भी स्त्री पाणिग्रहण रहित—

स्त्री के साथ विवाह न करने वाला कहा है। अन्यथा तो इन्हें पुरुष पाणिग्रहण रहित लिखा होता।

एवं इसी से यह बात भी सिद्ध हुई कि महावीर प्रभु भी बाल ब्रह्मचारी ही थे जैसा कि दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में लिखा हुवा है। अस्तु।

माता मरुदेविकामुक्तिगमन—

भगवान् ऋषभदेव की माता मरुदेवी अपने पोते भरत को यों कहती रहती थी कि मैं ऋषभदेव को देखना चाहती हूं कि वह कैसी दशा में है जोकि घर छोड़कर जंगल में चला गया एवं साधु हो गया। इस पर भरत महाराज एक रोज जब कि भगवान को केवल ज्ञान हो चुका था, मरुदेवी माता को हाथी पर बैठा कर दर्शनार्थ ले गये।

माता अपने पुत्र को समवशरण में सिंहासन पर बैठे और देवों द्वारा पुजते हुये देखा तो वह आनन्द विभोर हो गई। पहले वह समझ रही थी कि मेरा पुत्र जंगलों में बुरी दशा में होगा अत: अब उसे अद्भुत ठाठ में देखकर वह अपनी भूल पर पश्चात्ताप करने लगी बस इतने पर उसे केवल ज्ञान हो गया और मुक्त हो गई। यह कथा श्वेताम्बरीय ग्रन्थ क्लप सूत्र के सातवें व्याख्यान में लिखी है। इसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण स्त्रियों के तथा पुरुषों के भी यथा स्थान श्वेताम्बर ग्रन्थों में मिलते हैं जिनमें बिना कुछ त्याग तपस्या लिये ही गृहस्थ अवस्था में ही बुहारा देते देते चलते फिरते हुये भी केवल ज्ञान हो गया। इस पर सोचना यह है कि इसी प्रकार अगर केवल ज्ञान और मुक्ति हो जाये तो फिर त्याग तपस्या लेने की क्या जरूरत रही जैसा कि श्वेताम्बरों के ही पउमचरिय ग्रन्थ में जब दशरथ महाराज दीक्षा की तैयारी करने लगे तो भरत को भी वैराग्य होने लगा। पिता ने भरत को समझाया कि हे पुत्र गृहस्थाश्रम में भी धर्म है और वह महान्

है। तुम उसी में रत रहो और सब राज्य के अधि पति बनो। इस पर भरत उत्तर देते हैं कि यदि गृहस्थाश्रम में रहता हुवा ही पुरुष मुक्ति प्राप्त करले सकता है तो फिर आप संसार से डर कर घर क्यों छोड़ रहे हैं—

गेहासमे विधम्मो पुत्त महागुण परो समक्खादो ।
तम्हागिहिधम्मरवो होई तुमं सयल रज्जवई ॥ ८३ ॥
जइ लहइ मुत्ति सोक्खं पुरिसोगिहिधम्म संठिवोसन्तो ।
तो कीस मुञ्चसितुमं गेहं संसार परिभीवो ॥ ८६ ॥ उद्देश ३१

मतलब यही पूर्णत्याग करते हुये साधु होकर निर्द्वन्द हुये बिना मुक्ति नहीं होती यह बात उत्तराध्ययन में भी लिखी है जिस का कि उल्लेख हम पहले कर आये हैं।

केवल ज्ञान

केवल ज्ञान हो जाने के बाद इस आत्मा की अवस्था अलौकिक हो जाती है। यह आत्मा से परमात्मा बनजाता है। आत्म गुणों के घातक चार घातिया कर्मों के नाश हो जाने से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य इन चार अनन्त चतुष्टयों की उपलब्धि हो जाती है। यद्यपि नाम गोत्र आयु और वेदनीय इन चार अघातिया कर्मों के आवशेष रह जाने से इस शरीर का सहयोग बना ही रहता है। तो भी यह अपनी मांस मज्जादि रूप घृणित अवस्था को त्याग कर एक और ही अवस्था में आजाता है। जैसे कि चन्दन के पास होने वाला नीम का पेड़ भी सुगन्धदार हो जाता है। अत: केवली भगवान् को भूख प्यास लगना, रोगशोक होना, बुढ़ापा आना डर लगना, आश्चर्य होना इत्यादि विघ्नबाधायें बिलकुल नहीं होती हैं। वे जहां पर विराजमान होते हैं उनके चारों तरफ योजनों तक सुभिक्ष हो जाता है। परस्पर

में पशु पक्षी भी जाति विरोध छोड़कर मित्र भाव से रहते हैं ऐसा भगवान का प्रभाव है।

शङ्का—जबकि तत्वार्थ सूत्र के एकादशजि ने इससूत्र में स्पष्ट बतलाया है कि भगवान केवली के भी वेदनीय कर्म की वजह से होने वाली क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्य्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह होती हैं तो फिर आप ऐसा कैसे कहते हैं कि उनको भूख नहीं लगती बल्कि हम तो कहते हैं कि भूख लगती है और उसे मेटने के लिये वे भोजन भी करते हैं इत्यादि।

उत्तर—भैय्या जी जरा सोचो तो सही कि जब उन्हें भी भूख लगती है और उसे मेटने के लिये वे भी अपन सब की तरह भोजन करते हैं तो फिर अनन्त (अनवच्छिन्न) सुखी कैसे रहे क्योंकि भूख लगने पर दु:ख जरूर हुवा जो कि भोजन करने पर मिटा।

किञ्च भोक्तु मिच्छावुभुक्षा यानी खाने की इच्छा को भूख (बुभुक्षा) कहते हैं अत: अगर केवली को भी भूख लगती है। तो इसका यही अर्थ हुवा कि उनके भोजन करते की इच्छा होती है। जैसे विहायो गति के उदय से तथा भव्य जीवों के पुण्योंदय के निमित्त से केवल का विहार और तीर्थंकर प्रकृति के उदय से एवं वचन योग के सद्भाव से इच्छा न होते हुये भी दिव्यध्वनि होती है, पेट में भी भोजन उस प्रकार नहीं पहुंच सकता। भुख में भोजन का ग्रास खाना उसे चबाना और निगलना यह कार्य तो इच्छा से ही होगा। इच्छा मोह बिना हो नहीं सकती हैं।

अत: या तो केवली के मोहनीय कर्म न होने के कारण भोजन करने की इच्छा न होने से भोजन करने का अभाव मानना पड़ेगा अन्यथा तो भोजन करने की इच्छा होने से मोहनीय कर्म की सत्ता। इसलिये कुन्द कुन्द आदि दिगम्बर जैनाचार्यों ने केवली के कवलाहार का जो

अभाव माना है वह कर्म सिद्धान्तानुकूल ही है। रही तत्वार्थ सूत्र की बात सो तत्वार्थ सूत्र में तो ठीक हीं लिखा है कि—

भगवान केवली के वेदनीय कर्म का सद्भाव है अत: वेदनीय कर्म से होने वाले परीषहों का भी सद्भाव निमित्त नैमित्तिक रूप से है। यह कहाँ लिखा है कि वे भी भोजन करते हैं वगैरह। किसी की सत्ता का होना दूसरी बात है और उसका कार्य दूसरी बात। सवार्थ सिद्धि के देवों के भी असाता वेदनीय का उदय एवं सप्तमनारकनिवासियों के भी साता का उदय हमारे कर्म सिद्धान्त में माना गया है किन्तु वहां उसका कार्य क्या है कुछ नहीं। उसी प्रकार केवली के लिये समझना चाहिये अर्थात् उनके असाता वेदनीय भी साता रूप में उदय में आता है जैसा कि गोमट्टसार जी में लिखा है—

समयट्ठिदिगो बन्धो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स ।
तेण असादस्सुदओ सादस रूवेण परिणमदि ॥ २७४ ॥
एदेण कारणेणदु सादस्सवदु णिरन्तरो उदवो
तेणा सदणिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि ॥ २७५ ॥

अर्थात्—केवल ज्ञानी के साता वेदनीय का एक समय स्थिति वाला बन्ध (उसी समय बन्ध और उसी समय उस का उदय) होता है। इस कारण पूर्व बद्ध असाता का उदय भी साता रूप में परिणत हो कर आता है। एवं केवली के निरन्तर साता वेदनीय कर्म का ही उदय होता है इस लिये असाता वेदनीय के उदय से होने वाली परिषह केवली भगवान के नहीं होती हैं। याद रहे कि गोमट्टसार कारने अपने ग्रन्थ को स्वयं न रच कर उसमें अपने से पूर्व के प्रमाणीक आचार्यों की उक्तियों का ही संग्रह प्रायश: किया है। अपिच भूख जिसके कारण मनुष्य भोजन करने के लिये प्रवृत्त होता है असाता वेदनीय कर्म के उदय मात्र से नहीं होती असाता की उदीरणा से हुवा करती है देखो—

आहार दंसणेणय तस्सुव जोगेण ओमकोठाये
सादिदरूदीरणाये हवदिहु आहार सण्णावो ॥ २३४ ॥ गोमट्टसार

अर्थात्—भोज्य पदार्थ देखने से भोजन की ओर उपयोग लगाने से पेट खाली होने से एवं असाता वेदनीय की उदीरणा होने पर आहार संज्ञा होती है भूख लगती है। वेदनीय कर्म की उदीरणा छटे गुण स्थान तक ही होती है उससे ऊपर में नहीं होती इस नियम को न केवल दिगम्बरीय सिद्धान्त ग्रन्थ ही किन्तु श्वेताम्बरीय ग्रन्थ भी मानते हैं देखो— श्वेताम्बरों के प्रकरण रत्नाकार चतुर्थ भाग में—

उइरन्ति पमत्तन्ता सगठ्ठमीसट्ठ वेय आउविणा
छग अपमत्ताइतऊ छपञ्च सुदुमो पणुवसन्तो ॥ ६४ ॥

अर्थात्—पहले गुणस्थान से छटे गुणस्थान तक मिश्रगुण स्थान को छोड कर पांच गुणस्थानों में आठों कर्मों की उदीरणा होती है। सातवें आठवें नोवें गुणस्थान में वेदनीय और आयु कर्म के बिना छह कर्मों की, दशवें और ग्यारहवें गुण स्थान में दो में मोहनीय वेदनीय और आयु कर्म के विनाशेष पांच कर्मों की उदीरणा होती है।

आश्चर्य तो यह कि जहां मोहनीय कर्म की उदीरणां एवं मैथुन संज्ञा भी मानी गई है ऐसे सातवें आठवें और नोवें गुणस्थानों में मैथुन का अभाव मान कर भी भगवान केवली के भोजन करना कहा जाय जहां वेदनीय कर्म की उदीरणा नहीं एवं मोहनीयकातों नाम भी नहीं।

बल्कि पष्ठ गुणस्थान वर्ती महर्षि लोग भूख लगने पर उस का महीनों तक नियन्त्रण कर रखते हैं षण्मोसोपवास वर्षोंप वास के भी उदाहरण मिलते हैं तो फिर क्या केवली भगवान उनसे भी गये बिते होते हैं।

शङ्का—जबकि आप केवली के आहार का निषेध करते हैं तो फिर षट्खण्डागम के अन्दर क्यों लिखा है कि एकेन्द्रिय जीवों से लेकर सयोग केवली तक सब जीव आहार करने वाले है—

आहारा एइन्द्रिय पहुदि जावसजोग केवलित्ति ॥

उत्तर—यहां पर कवलाहारा-भोजन की बाबत न लिखा जाकर नोकर्माहार (शरीर योग्य परमाणुवों को ग्रहण करने) की बाबत लिखा गया है। क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों के तों कवलाहार तो होता ही नहीं। हां हमारे पूर्वाचार्यों ने छह प्रकार के आहार माने है? कर्माहार १ नो कर्माहार २ कवलाहार ३ मानस आहार ४ ओज आहार ५ और लेपाहार ६। इन में से कवलाहार तो मनुष्य पशु और पक्षियों में होता है। मनसाहार देव लोगों के होता है। ओज आहार पक्षियों के अण्डों के होता है अर्थात् अण्डे का जीव अपने माता पिता वगेरह के शरीर की गर्मी से पलते हैं। एकेन्द्रिय वृक्षों मे लेपाहार होता है वे अपनी जड़ों से पानी छूकर ग्रहण करते हैं। कर्माहार प्रति समय हरेक संसारी जीवों के होता रहता है योगनिरोध नाम के चोदहवें गुणस्थान से पहले ऐसा कोई समय नहीं जबकि यह जीव कर्म परमाणुवों को ग्रहण न करता हो। यही नोकर्माहार का हाल है परन्तु उस में जरा सा विशेष है और वह यह कि विग्रहगति (एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर धारण करने के लिये जब जीव गमन करता है तो उस में उसे मोड़े भी लेने पड़ते हैं जितने मोड़े लेता है उतने ही समय तक वह नौ कर्माहार नहीं लेकर अनाहारक रहता है और मोड़े जादे से जादे तीन लेने पड़ते है जैसा कि तत्वार्थ सूत्र के एकं द्वौ त्रीन्वा नाहारक इस सूत्र में बतलाया है) बाला जीव नोकर्म ग्रहण नहीं करता एवं समुद् घात गत केवली भी नहीं करते वा अयोग केवली तथा सिद्ध ग्रहण नहीं करते बाकी सब को लेना पड़ता है। वही यहां षट्खण्डागम में बतलाया गया है जैसा कि नीचे सूत्र में स्पष्ट करते हैं—

अणाहारा चदुसु ठाणेसु विग्गहगइ समावण्णाणं,
केवलीणं वा समुग्धाद गदाणं अजोग केवली सिद्धा चेदि ।

मतलब यह कि केवली भगवान के नो कर्माहार होता है कवलाहार नहीं जैसा कि संशय-प्रदनविहारण ग्रन्थ में भी लिखा है—

णोकम्मं वित्थयरे कम्मंणिरये य माणसो अमरे
कवलाहारो नर पसु उज्जोपक्खी य इगिलेवो ॥

श्री तीर्थंकर भगवान की खुद की बात ही क्या। बल्कि उनके समवशरण में धर्मोपदेश सुनने के लिये बैठे हुये लोगों को भी अताङ्क (राजयक्ष्माहि) रोग (ज्वरादि) मरण उत्पत्ति वैर कामबाधातृष्णा क्षुधादिकी पीडायें नहीं होती ऐसा त्रिलोक प्रज्ञाप्ति में लिखा है:—

आतङ्क रोग मरणुप्पइ ओ वेर काम बाधावो ।
तण्हा छुह पीडावो जिण महाप्पेणण हवन्ति ॥ १३३ ॥

हमारे यहां ही नहीं श्वेताम्बरों के भी प्रकरण रत्नाकर के तीसरे भाग में पृ० ११७ पर केवल ज्ञानी के अतिशयों का वर्णन है वहां लिखा है—

पुव्वभव रोगादि उवसमन्ति ण य होइ वेराई ॥ ४९ ॥

अर्थात् केवल ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर पहले के भी रोग वगेरह नष्ट हो जाते हैं और नये पैदा नही हो पाते एवं किसी तरह का वैर विरोध वगेरह भी नही रहता। समवायाङ्ग सूत्र में भी ३४ अतिशयों का वर्णन है वहां भी लिखा है कि भगवान का शरीर बिलकुल निरोग होता है। वैर विरोध मिटकर जीवों को शान्ति मिलती है २६ जहां भगवान हों वहां पचीस योजन तक धान्यादिको नष्ट करने वाले मूषादि

नहीं होते २८ मरी वगेरह किसी प्रकार का रोग नहीं होता ३० परचक्रादिका भय नहीं होता ३२ इत्यादि। इसी प्रकार मुनि आत्मा राम जी कृत जैन तत्वादर्श में भी ३४ अतिशयो के वर्णन में चोथा या पांचवा अतिशययों लिखा है कि—साढे पच्चीस योजन प्रमाणे चारों पासे उपद्रव रूप ज्वरादिरोग नही होते तथा परस्पर वैर भाव भी नही रहता।

तथा जैन तत्वादर्श में २७५ वें पृष्ट पर शुक्ल ध्यान के प्रारम्भ में लिखा है कि जो आहार आसन और निद्रा इन पर विजय प्राप्त कर लेता है वही आत्मा का ध्यान कर पाता है देखो—

आहारासननिद्दा—जयं काऊण जिणमयेण
झाइझ्झणियं अप्पा उवइट्ठं जिणवरिन्देहिं ॥ २ ॥

अब जबकि आहार और नींद वगेरह की बाधा को शुक्ल ध्यान के प्रारम्भ में ही जीत लिया गया तो फिर केवल ज्ञान के होने पर वे सब कहां से हो सकती हैं जहां पर कि परम शुक्ल ध्यान होता ही है। अत: यह निश्चित है कि अरहन्त में क्षुधातृषा वगेरह अठारह दोष बिलकुल नहीं होते जैसा कुन्द-कुन्द बतला गये हैं और इतर दिगम्बर जैनाचार्य तथा विचारशील श्वेताम्बराचार्य भी कह रहे हैं। अत: हमें मानना चाहिये। यहकहना भी ठीक नहीं कि और आचार्यों ने कुन्द कुन्द का ही नाजायज अनुकरण कर लिया है क्योंकि बहुत सी बातों में आचार्यों में परस्पर भेद भी है जैसे कि कुन्द कुन्दाचार्य ने अपने समयसार में कर्म बन्ध के कारण मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग इस तरह चार बतलाये हैं देखो—

सामण्णपच्चयाखलु चउरो भण्णन्ति वन्धकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोग्गा य वोद्धव्वा ॥ ५०९ ॥

परन्तु तत्वार्थ सूत्रकार ने अपने ग्रन्थ में मिथ्यादर्शना विरतिप्रमाद

कषाय योगा वन्धहेतव ॥ २ ॥ अध्याय ८ अर्थात मिथ्या दर्शन १ अविरति २ प्रमाद ३ कषाय ४ और योग इस प्रकार बन्ध के कारण ५ बतला रहे हैं तथा गोमट्टसार कार वगेरह ने तत्वार्थ सूत्र के कर्ता का ही अनुसरण किया है। हां यह बात जरूर है कि प्राचीन मान्यता कुन्दकुन्दाचार्य के मत का समर्थन करने वाली है क्योंकि खुद श्री गोतम गणधर ने अपने प्रतिक्रमण दण्डक में चउसु वन्ध पच्चयेसु ऐसा लिखा है। इत्यादि बातों को देखकर निस्संकोच दिलसे यह मानना पड़ता है कि स्वामी कुन्द कुन्द ने सनातन जैन धर्म को अक्षुण्ण बनाये रखने की चेष्टा की। कमजोर कमअकल एवं मनचले लोगों के निमित्त से आने वाली बुराइयों से समीचीन जैनधर्म को बचाये रखने का पूर्ण प्रयत्न किया। इसी लिये समयानुसार जैन धर्म में भी तब्दीली चाहने वाले लोग भले ही कुन्द कुन्द को न माने उन्हे अनेक तरह के कोसे परन्तु सयाना आदमी तो उन्हें सम्मान दिये बिना न रहेगा। बल्कि दिगम्बर सम्प्रदाय का तो बच्चा बच्चा उन्हें शिर झुकाने में अपना गौरव मानता है। और इसी लिये सर्व प्रथम भगवान महावीर स्वामी को फिर श्री गोतमगणधर को उसके बाद कुन्दकुन्दाचार्य को स्मरण किया जाता है। जैसा कि—

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गोतमो गणी ।
मंङ्गलं कुन्द कुन्दार्यो जैन धर्मोऽस्तु मङ्गलं ॥ २ ॥